वन्दनवार

लेखक
शम्भूदयाल सक्सेना

बन्दनवार

[कहानी-संग्रह]

लेखक

शम्भूदयाल सक्सेना

प्रकाशक

रमेशचन्द्र वर्मा

नवयुग-ग्रन्थ-कुटीर,

फर्रुखाबाद

पहला संस्करण } १९३२ { मूल्य १)

भूमिका

कहानी पढ़ने या सुनने के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक इच्छा होती है। कहानी का प्रभाव पुरुष, स्त्री, वृद्ध, युवा या बालक, शिक्षित या मूर्ख जो भी हो सभी पर पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि उसका प्रभाव समय और स्थान के बन्धनों से स्वतन्त्र होता है। कहानी पाठक को कभी संसार के भिन्न-भिन्न देशों की सैर करा देती है और कभी प्राचीन काल का इतिहास सामने लाकर खड़ा कर देती है और कभी भविष्य का ऐसा सुन्दर चित्र दिखा देती है कि पाठक अपनी दुनिया को भूल जाता है। यही नहीं, कहानी से लेखक वह काम कर सकता है जो बड़े बड़े सुधारक और नेता मुश्किल से कर सकते हैं।

कहानी को कहानी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें कोई ऐसी घटना हो जिसके जानने के लिए उसे पाठक पढ़े। कहानी कदाचित् साहित्य का वह अंग है जिसमें गद्य प्रधान होना चाहिये; क्योंकि अगर किसी ठोस बात को हमें कहना है तो यह जरूरी है कि हम कल्पना-कवित्व-

पूर्ण उड़ान को सामने लाकर वास्तविक मार्ग को छोड़ न दें।

यदि कहानी के हार में घटना का धागा शुरू से आखीर तक नहीं रहेगा तो फूल कितने ही अच्छे हों वह हार न होंगे और न एक साथ रह ही सकेंगे।

वे कहानियाँ जिनमें घटना नहीं होती और लेखक भाव को ही कहानी का रूप दे देता है कहानी का क्षेत्र उल्लंघन कर जाती हैं। और अगर देखा जाय तो भावानात्मक कहानियों में भी लेखक भावों को इतना वास्तविक बना देता है कि पाठक उन भावों को भाव समझकर नहीं बल्कि घटना समझकर पढ़ता है और उसे कहानी का पूरा आनन्द मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ऐसी बहुत-सी कहानियाँ हैं। ऐसी भावनापूर्ण कहानियाँ लिखकर कवीन्द्र ने यदि साहित्य का बहुत उपकार किया है तो उनके ही ऊपर यह भी उत्तरदायित्व है कि कम से कम हमारे हिन्दी के बहुत से उन लेखकों को उन्होंने बुरी तरह गुमराह भी किया है। जो सुन्दर शब्दों को एक साथ ही रख देना सब कुछ समझते हैं और इसका जरा भी ख्याल नहीं करते कि उनके शब्दों का कोई अर्थ भी है या नहीं।

'बन्दनवार' हिन्दी के एक उदीयमान कवि, उपन्यासकार और कहानी लेखक की रचना है। बाबू शंभूदयाल सक्-सेना ने चित्रपट (उन्हीं की कहानियों के संग्रह) में लिखा है कि कहानी लेखक में जिन योग्यताओं का होना आवश्यक है वे मुझमें एक भी नहीं हैं, यह उनकी आवश्यकता से अधिक विनम्रता है। मेरा यह ख्याल है कि उनमें कहानी लेखक में जो जो गुण होने चाहिये वे सब मौजूद हैं। उनका संग्रह पढ़ने से प्रकट होता है कि जहाँ वे जिस बात का उपयोग करना चाहते हैं कर लेते हैं। उन्हें संसार का अनुभव है। 'डाक मुन्शी' कहानी में जो अक्सर हमारे जीवन में देखने को मिलता है, वही है। 'विवाहिता कुमारी' का चित्रण कितना स्वाभाविक है; वस्तुविन्यास की कुश-लता 'वन्दी' कहानी में देखते ही बनती है। आलाप का ढंग, भाषा और शैली की निपुणता तो 'बन्दनवार' में आरम्भ से अंत तक उसी तरह है जैसी सक्सेनाजी से आशा की जाती है।

'बन्दनवार' की क़रीब-क़रीब सभी कहानियों में अगर प्रत्येक अलग-अलग देखी जाय तो घटना की कमी मिलेगी। इसकी पूर्ति सक्सेनाजी ने अपनी भाषा की

सुन्दरता और उसके प्रवाह से की है। 'बन्दरवार' की कहानियाँ भावप्रधान हैं। इनमें मनुष्य जीवन की तार्किक भावना दिखाने की ज़्यादा कोशिश नहीं की गई है। किसी ख़ास बात का कोई एक पात्र कैसे अनुभव करता है या लेखक उसका कैसे अनुभव कराता है, यह इस संग्रह की कहानियों में ख़ूब देखने को मिलता है।

बाबू शंभूदयाल सक्सेना कवि भी हैं। कहानी लिखते समय अपने इस ईश्वर-प्रदत्त गुण को भुला नहीं सकते। उनकी कहानियों में गद्यकाव्य की अच्छी पुट है।

'बन्दनवार' की कहानियों में भावों की प्रधानता और घटनाओं की कमी होने पर भी कहानी का मज़ा है; क्योंकि सक्सेनाजी ने यद्यपि कितने ही अन्य हिन्दी कहानी-लेखकों की तरह सुन्दर शब्द इकट्ठे किये हैं, तथापि उन्होंने कहानी के सिलसिले को कायम रखने की अच्छी चेष्टा की है, और अपने इस प्रयत्न में वे सफलमनोरथ भी हुए हैं।

मेरा जहाँ तक व्यक्तिगत विचार है, मैं यही पसन्द करूँगा कि हमारी कहानियाँ कहानियाँ ही होनी चाहिये, और वे साहित्य के किसी दूसरे अंग का टुकड़ा न हों। वह

साहित्य का एक स्वतन्त्र अंग है। जिसकी रचना बिना किसी दूसरे अंगों की मदद के हो सकती है। यदि यह ठीक है तो कोई कारण नहीं है कि हम अपनी कहानियों को भावात्मक या काव्यमय बनाकर एक मिश्रित वस्तु तैयार करके पाठक के सामने रक्खें। भावात्मक कहानियों में 'बन्दनवार' को एक ऊँचा स्थान मिलेगा और मैं विश्वास करता हूँ कि हिन्दी के कहानी-प्रेमी इस संग्रह को अपनाकर अपने साहित्यप्रेम का परिचय देंगे और इस तरह अच्छे साहित्य के प्रचार में सहायक होंगे।

कन्हैयालाल

"कृष्ण कुञ्ज"
प्रयाग। २० सितम्बर, १९३२
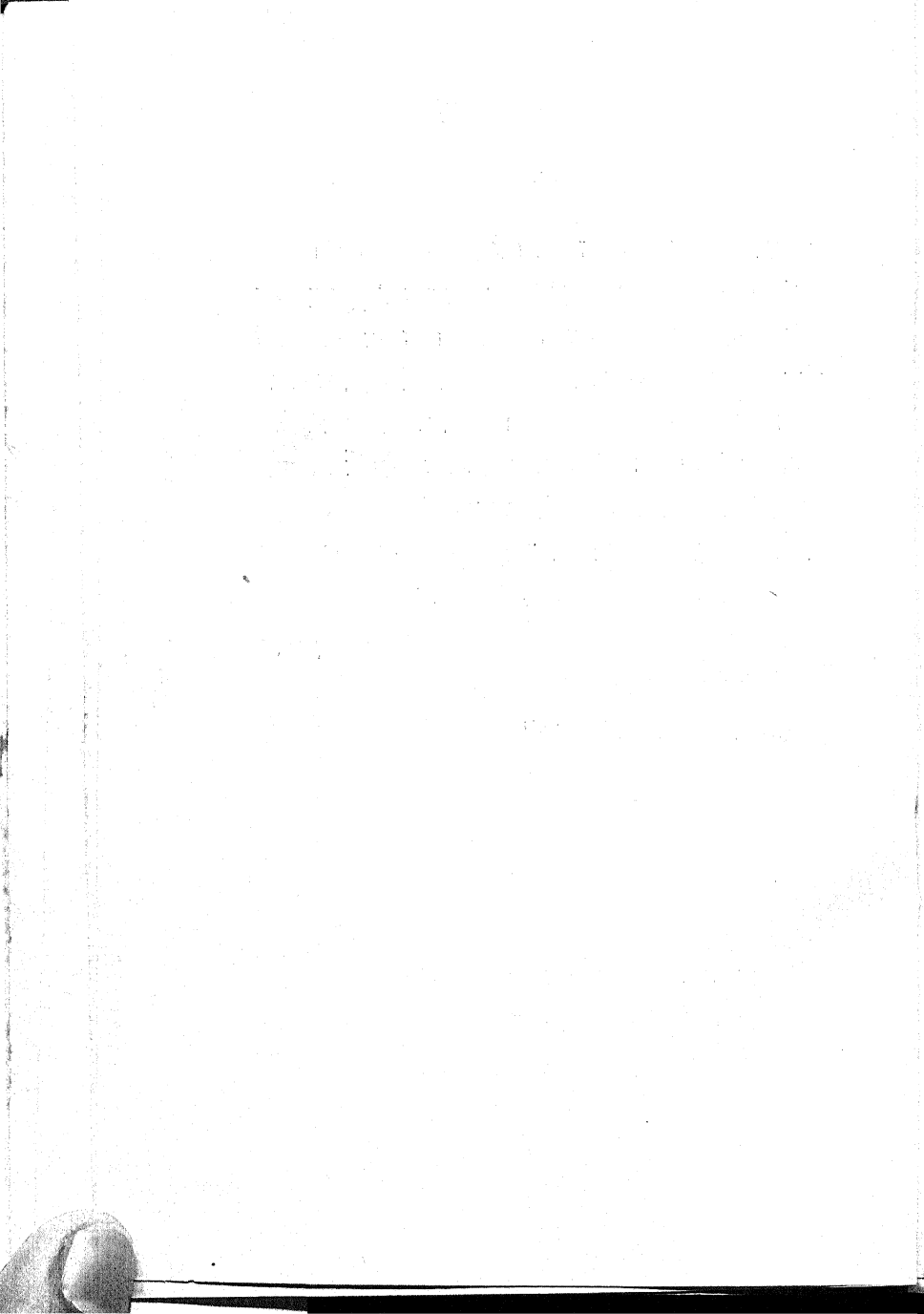
निवेदन

आकाश और पाताल अतिशयोक्ति के दो सिरे हैं। साधारण दुनियाँ उनके बीच में रहती है, सदा ही। यही नियम है। कहानी-साहित्य पर भी समालोचकों के चरम आतिशय्यद्योतक दो मत हैं। एक की राय में केवल सात वस्तुविन्यासों (Plots) में दुनियाँ के कथा-साहित्य की मौलिकता समाप्त हो जाती है। दूसरे की राय में, कोरी नकल न हो तो, अपनी शैलीवाली प्रत्येक कहानी में मौलिकता का तत्व विद्यमान रहता है।

उद्‌भट समालोचना के दोनों चरम छोर छोड़कर मध्यम मार्ग का अनुसरण ही अपना लक्ष्य है। इसीलिये, एक से अधिक और दो से कम कहानियों को छोड़कर, शेष के विषय में मौलिकता का विनम्र दावा असंगत न होगा। वह भी इसलिए कि उनकी समस्त न्यूनताएँ अपनी ही अक्षमता की द्योतक हैं। जो अमौलिकता की छाया से आच्छन्न हैं, उनमें भी मूल भावना के शिशुरूप के अलावा विकृति का सम्पूर्ण दोष अपने मत्थे है; क्योंकि मैं कोई कलाकार नहीं। अपनी भद्दी रुचि से दूसरों के रत्न तिरस्कार की टोकरी में गिरकर लांछित न हों, इस कैफियत का यही एक मात्र कारण है।

श्रीमान् मुंशी कन्हैयालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट, भूतपूर्व संपादक उर्दू 'चाँद' का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कृपापूर्वक इस पुस्तक के लिए विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

'चित्रपट' के बाद कहानियों का यह दूसरा संग्रह, जैसा भी है, अन्त में पाठकों के सामने रखते हुए मुझे संकोच नहीं हो रहा है। कारण, हिन्दी की यह चीज़ उनकी अपनी है।

सेठिया कालेज,
बीकानेर
२२-९-३२

शा० द० सक्सेना

कला विहीन कला के सर्वोत्तम रूप, विश्व की विराट् कृति, आश्चर्यों के महान आश्चर्य, सौंदर्य की पाषाण-प्रतिमा, काव्य-कल्पना के कान्त कलेवर, वैभव के मुकुट-मणि, आर्य-संस्कृति के स्मारक, आदिम सभ्यता के अंगरक्षक, यज्ञाग्नि-धूम-धूसर, अरण्य- आश्रम-वासी, मूक तपोधन, पयस्विनी-कुल-पिता, प्रलयंकर रुद्र के चिर-तुषारमय भव्य भवन गिरिराज हिमालय के अभ्रभेदी नग्न-तुंग शृंग के शुभ्र ललाट में ससम्भ्रम अधिष्ठित ।

—लेखक

सूची

बन्दनवार

मातेश्वरी

(१)

सबेरे लहलहाती हुई डाल ने मुँह उठाया । उसमें एक कली खिली थी । शाम का झोंका निकला और उसकी महक को चुरा ले गया । दूसरे दिन वह अनमनी होकर धूल में पड़ी थी ।

रंगमहल में रहनेवाली विलासिनी ने उसे देखा और फिर अपनी बसन्त-श्री को । वह झिझककर पीछे हट गई । कामना मसल गई—प्रेम सजीव हो गया । महल से निकलकर वह कुटी की छाया में रहने लगी ।

कौन ?—विलासिनी ?

नहीं, वही जगन्माता !

(२)

"उसकी सम्पत्ति कुबेर का खज़ाना थी, कुटी में रह-कर राज-सूय यज्ञ किए होंगे।" पथिक ने पूछा।

"नहीं, वह अभागी थी। कठिन दुर्भिक्ष में लुट गई—अनेक कीड़े-मकोड़ों को उदर-ज्वाला में भस्म हो गई"—पुजारी ने जवाब दिया।

"दुर्भिक्ष में?"

"हाँ, रही-सही महामारी में।"

"अब?"

"हाथों को मलती और धर्म के लिए तरसती होगी।"

(३)

पुजारी ने पूछा—"देख लिया?"

"हाँ, पर यह जगह अँधेरी है। कहीं पवित्र स्थान में चलकर बैठें।"—पथिक ने कहा।

पुजारी ने मन्दिर का द्वार खोल दिया। पथिक ने सहमकर आँखें बन्द कर लीं।

"क्यों, चलोगे नहीं?"

"नरक में जाने से भय लगता है। यह कैसा मन्दिर है? पुजारी, पागल तो नहीं हो गये हो?"

"मूढ़, क्या कहता है ? देख, सामने ठाकुरजी विराजते हैं।"

"तुम्हारी आँखों की कमज़ोरी पर मुझे तरस आता है। मैं तुम्हें यथाशक्ति उधर जाने से रोकूँगा।"

"अभागा, भस्म हो जायगा।"

पथिक ने आकाश की ओर देखकर आँखों को मूँद लिया और कहा—"आओ, अब तुम देखोगे।"

(४)

मध्याह्न के अंगारों में पथिक आगे-आगे था और पुजारी पीछे। सामने सड़क पर एक बालक हैज़े से पीड़ित पड़ा था। विलासिनी ने अपनी गोद में उसका लथपथ शरीर रख लिया था। पुजारी ने कहा—"आगे चलो !"

एक घर में सात प्राणी थे। दो लड़के, तीन लड़कियाँ, स्त्री और पुरुष। पुरुष मर चुका था। स्त्री-पुत्र और दो लड़कियाँ मरणासन्न—बाक़ी भूख-प्यास से बेचैन। पुजारी का हृदय पसीज गया, पर वे थे अछूत। विलासिनी वहाँ भी आ गई। पुजारी ने पथिक की ओर देखा। वह निर्विकार था।

सामने कई चितायें लपटें ले रही थीं। एक युवक संसार की समस्त करुणा को हृदय से लगाकर बिलख रहा था। पुजारी की आँखें सजल होगईं। उस युवक का सारा परिवार उसे अकेला छोड़ गया था। पुजारी ने सोचा—उसका कोई नहीं है। क्योंकि वह अन्त्यज था! विलासिनी वहाँ भी आगई। उसने युवक पर अंचल की छाया करके कहा—"क्यों रोते हो?"

"कहाँ—गई मेरी माँ!"

"आओ, मेरी गोद में।"

"हा, पिता!"

"वह, मैं हूँ।"

"प्यारी—तारा!"

"इधर देखो।"

पुजारी वहीं अपना माथा झुकाकर बैठ गया। पथिक ने चिल्लाकर कहा—अरे, यह तो अपवित्र श्मशान है!

(५)

"कहाँ हो—पुजारी?"

"दिव्य लोक में।"

"यह क्या है?"

"चिरन्तन ज्योति ।"

"उधर चर्खे की वीणा कौन बजा रहा है ?"

"मातेश्वरी ।"

"सच कहना, विलासिनी तो नहीं ?"

"अजी, जगदम्बिका के लिये यह क्या कहते हो !"

"—और यह द्वारपाल ?"

"ओह ! वही ठाकुरजी तो हैं ।"

(६)

पुजारी मन्दिर से चलते-चलते रुक गया और कहा—"यहाँ कहाँ ?"

"क्यों ?"

"उस कुटी में थे न ?"

"और अब ?"

"यही तो—अब यहाँ कैसे आगये ?"

"मन्दिर या कुटी में तो मैं नहीं रहता ।"

"तो ?"

"मैं रहता हूँ प्रेम और सौहार्द्र में—और तुम कहाँ चले ?"

"वहीं, जहाँ आप द्वारपाल बने थे।"

"नहीं, वहाँ जाने की अब जरूरत नहीं।"

पुजारी ने माथा चरणों में झुका दिया और सजल आँखों को पोंछकर देखा। चाँदनी की अमृत-भरी किरणें किशोरी के रंगीन अधरों और मरणोन्मुख वृद्ध के कंकाल को साथ ही साथ चूम रही थीं। उसने झटपट मन्दिर से निकलकर रोते हुए अन्त्यज को गले लगाकर सान्त्वना दी। पुजारी पवित्र और मन्दिर क्षीर-सागर हो गया।

'वह यदि मैं होती'

ख में दवा डलवाने अस्पताल गया था। वहीं रोगियों के एक कमरे के सामने मेरे कान में एक बहुत क्षीण स्वर में ये शब्द पड़े—'वह यदि मैं होती;'—फिर सब शांत हो गया। मालूम पड़ा, किसी ने या तो कहनेवाले के ओठों पर हाथ रखकर आवाज़ को बन्द कर दिया, या उसी की अन्तिम स्वाँस सहसा शून्य में विलीन हो गई।

अस्तपाल से लौटने पर वह हल्की-धीमी आवाज़ एक हज़ार-मने लट्ठे का बोझ बनकर मुझे दबाने लगी। सुख-मय निश्चिन्त जीवन में एक अप्रत्याशित चिन्ता का उदय जी को बड़ा कष्टकर मालूम पड़ा।

जोवन की तमाम विकट और दुखदायी परिस्थितियों से निकल चुका था। चिन्ता के वे अहोरात्र कभो के बीत चुके थे। भाग्य का सितारा जगमगा रहा था। समाज में मान-प्रतिष्ठा, सोसाइटी में विद्या-बुद्धि का आतंक, पूरी तरह जम चुका था। मेरे चरित्र में, लोगों के लिये 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का सामञ्जस्य स्थापित हो चुका था।

गाँव में अपनी सोलह आने ज़मीदारी थी। धन-धान्य से घर की शोभा अनन्त गुनी हो गई थी, तिस पर भी मैं था एन्ट्रेन्स पास! अपने आसामियों के लिये मैं गौरव की वस्तु था। दूर-दूर तक गाँवों में मेरी योग्यता की धाक थी। वहाँ ऐसा पढ़ा-लिखा भला था ही कौन ज़मींदार?

इन सब बातों के अलावा मेरे कोमल और दयार्द्र स्वभाव ने और भी मेरे लिये लोक-प्रियता का संचय कर रक्खा था। मैंने रियाया के लिये कई सुविधाएँ कर दी थीं। यहाँ तक कि सरकारी अफ़सर मेरे साम्यवादी होने

का संदेह करने लगे थे। वे सब मेरी उपेक्षा करने लगे थे; पर मैंने कभी उनसे मान पाने की उत्कण्ठा नहीं की। इसी से मैं अपने लोगों का बहुत प्यारा था। जिस दिन मेरी पुश्तैनी बन्दूक ज़ब्त कर ली गई थी, उस दिन मैंने भी अपने आपको बहुत कुछ बंधनमुक्त समझ लिया था। मेरे आसामियों ने तो एकमत होकर मुझे बधाइयाँ दी थीं और कहा था—आप इस सरकारी मान से दूर ही रहें तो अच्छा। मैं सब का इतना प्रिय था कि एक बार मेरे ख़ून कर डालने पर भी किसी को कानों-कान ख़बर न होती।

घर में मेरी सुन्दरी स्त्री थी, और थीं चहकती हुई मैना-सी एक छोटी सुकुमार बालिका। गत छः मास से मेरी स्त्री दूसरे बच्चे की माँ होने वाली थी। सभी विशेषज्ञों ने इस बार एक मत होकर पुत्र के पूर्व लक्षण निश्चित कर दिये थे। मेरी श्रीमती तो कष्ट होते हुये भी इस समाचार से खिली फुलझड़ी की तरह हर्षोत्फुल्ल दिखाई पड़ती थीं। मैं आनन्दातिरेक से खिल रहा था। ओह! कैसा सौभाग्यशाली—था मैं!

घर में आराम और सुख था। द्वार के बाहर कीर्त्ति और स्नेह। जीवन स्वतन्त्र, आनन्द और मंगलमय था।

मैं कभी भूलकर भी किसी वेदना-पूर्ण व्यथा की कल्पना नहीं कर सकता था; पर क्या कहूँ, जबसे अस्पताल से लौटा हूँ, तबसे हालत कुछ अजीब ही हो गई है। हृदय उमड़कर मुँह को आने लगा है। एक अज्ञात अन्तर्वेदना से हृदय और विचारों में, दुखदायी आन्दोलन खड़ा हो गया है। यद्यपि अभी तक उस पीड़ा का कोई स्पष्ट आधार ध्यान में नहीं आया था।

मैं परेशान था, वह अनन्त चिन्ता और व्यथा किस प्रकार दूर की जावे। उस दिन मित्रमंडली की चहल-पहल में छुरी की तेज़ धार थी। कुछ सुहाता न था। खाना बदज़ायक़ा होगया था। स्त्री की मन्द-मधुर मुसकान का रस फीका-सा जँचा। त्रिवेणी ने मेरी गोद में ज़बरदस्ती आसन जमाकर अपने खिलौनों और गुड्डे-गुड़ियों की लम्बी दास्तान सुना डाली; पर आज उसके मनो-मुग्धकर बाल-चापल्य से मुझे शान्ति न मिली। वेदना, चिन्ता और अशान्ति के उस भीमकाय पहाड़ के कारण मेरा तो दम घुटने लगा। खाना नहीं खाया, गपशप नहीं की, हँसा-बोला नहीं—जाकर सिर-दर्द का बहाना करके आँखों को छिपाकर अपने कमरे में लेट गया।

जब तक जागता रहा, एक आन्तरिक व्याकुलता से जी घबड़ाता रहा। अनेक तरह की करुण-दुखद कल्पनाएँ मन में उठती रहीं; पर अन्त तक मैं यह न समझ सका कि सारा मानसिक विकार किस अविच्छिन्न संबंध के कारण उठ खड़ा हुआ है? दुनियाँ में नित्य नई दुखद-मार्मिक सहस्रों घटनाएँ हुआ करती हैं, पर किसी का प्रभाव तो इस प्रकार हृदय में एक गहरी लकीर-सी नहीं खींच जाता। उन शब्दों में क्या था? क्यों मेरा हृदय एकान्त-पीड़ा से छटपटाने को आतुर हो रहा है? क्यों शरीर का रोम-रोम एक विशेष यन्त्रणा के साथ एक प्राण हो जाना चाहता है? उन साढ़े-तीन शब्दों में किस पुरातन संस्कार का संबंध-सूत्र ग्रथित हुआ है? किसी-अज्ञात अपरिचित की करुण-क्षीण दशा पर मेरे मन की अवस्था बदल जाना, बड़े आश्चर्य की बात है!

❀ ❀ ❀

किसी तरह रात को जब सो गया, तो स्वप्न में मेरे मन को व्यथित करनेवाली कई घटनाएँ सिनेमा के चित्रों की तरह बदलती रहीं। मेरे जीवन का सारा कालुष्यपूर्ण

अतीत आँखों के सामने आगया। मेरी स्मृति में सभी अतीत बातें सजीव होकर अभिनय करने लगीं।

गाँव, परिवार और मित्र-मंडली ने यशोगान के ऊँचे स्वरों में मेरे आत्मचरित के जिस अंधकार-मय भाग को छिपा दिया था, जिनकी विरुदावली सुनते-सुनते मेरे अन्तःकरण में यह बात भली भाँति बैठ गई थी कि मैं मनुष्य के रूप में एक दिव्य प्राणी हूँ। अज्ञान और अप्रबुद्ध जीवन के आदिकाल में यदि कोई भूल हो भी गई होगी तो वह बहुत भीषण नहीं हो सकती। न उसकी मार्जना की आवश्यकता है; और यह भी तो निश्चय नहीं है कि मुझसे कभी कोई त्रुटि हुई ही हो। यह हो सकता है कि अपनी सरल-भोली मनोवृत्ति ने उसे वैसा ही समझ लिया हो। पर आज का स्वप्न बहुत-सी असंभावित-अलक्षित बातों को प्रत्यक्ष कर गया। मैंने अपने जीवन की, विस्मृति और लापरवाही के घूँघट में छिपी हुई, बहुत-सी बड़ी-बड़ी कमज़ोरियाँ देखीं। वास्तव में उसी दिन प्रथम वार स्वप्न में मैंने अपने अपराधों को स्वीकार किया—उन अपराधों को, जिनकी स्मृति धुँधली पड़ चुकी थी, जिनकी गहरी रेखा समय के व्यवधान से मिटने पर आगई थी। जब मैं अपने पूर्ण वेग

से उनके लिए पश्चात्ताप के आँसू बहाने जा रहा था कि अकस्मात् कमरे के द्वार खुलने से मेरी निद्रा भंग हो गई।

मेरी श्रीमती ने भीतर आकर मुझे बताया कि आज शाम को उसकी......मृत्यु अस्पताल में हो गई। लोग पूछेंगे किसकी?—मेरी स्त्री ने तो उसका नाम मुझे बताया था, पर मैं किस तरह बताऊँ? जिसे मैंने हृदय से, मन से और विचार से निकाल दिया था, जिसके सारे सामीप्य को मैंने अपरिसीम दूरी में परिणत कर दिया था; जिसे अस्पृश्य अन्त्यज की भाँति, विषैले रोगों के कीटाणुओं की भाँति, निष्ठुरता से अरक्षणीय मान लिया था, आज उसका नाम कैसे लूँ?

किन्तु आज नव बरस बाद उसके मरने का समाचार सुनकर मैं तुरन्त उसके घर की ओर चल पड़ा। अपने यहाँ किसी ने नहीं जाना कि मैं कहाँ जा रहा हूँ? जिसे स्मृति-मन्दिर से बहिष्कृत कर दिया था, उस घर की भग्न प्राचीरों के भीतर पहुँचा तो वहाँ केवल हिलते हुए वृक्षों को पाया, न किसी आदमी का निशान था—न जीवन का स्पन्दन! उसके घर की हालत कंकाल-शेष वृद्ध की तरह शीर्ण हो गई थी। जिस घर में एक बार, परीक्षा

पास हो जाने के बाद, मैंने उसकी भोली गृहस्वामिनी को आशाओं की रुपहली मृगमरीचिका दिखाई थी, वहाँ आज श्मशान की शान्ति छा रही थी ! मेरी आँखों से आँसुओं की गंगा बह चली। वहीं खड़े-खड़े मैंने एक बार वे सब बातें सोच डालीं।

❀ ❀ ❀

एक समय था—मेरे पास मोटरसाइकिल थी। उसी के धक्के से बलराम गिरकर बेहोश हो गया था। उस समय मेरी उमंगों का सारा विकास छिन्न-भिन्न होगया था; और जब डाक्टर ने आकर उसकी अन्तिम घड़ियों की सूचना दे दी थी तब तो मेरे भयंकर संकट का अनुमान लगाना कठिन था। उस समय परिवार और प्रतिष्ठा किसी की सहायता से काम निकलनेवाला नहीं था; पर स्वयं बलराम ने उस समय मुझे नया जीवन दे दिया था। उसने एक कागज़ पर अपने कंपित और मरणासन्न हाथों से डाक्टर की उपस्थिति में लिख दिया था—"मैंने स्वयं आत्म-हत्या कर-ली है। बिधवा माता और छोटो बहन के ऊपर अपनी पढ़ाई का बोझ डालकर उनके कष्टमय जीवन को और दुखमय बनाने से उसका न रहना ही अच्छा होगा।"

उस प्रसंशनीय दान-पत्र को लेते समय मेरी अन्त-रात्मा लज्जा से नत हुई जा रही थी। मैंने भी एक साहसी युवक की तरह उससे प्रार्थना की थी कि वह मुझे कोई सेवा का भार दे जावे। बड़े अनुनय-अनुरोध के बाद उस महान-उदारात्मा बलराम ने, अपनी छोटी-बहन, सावित्री के जीवन की देख-रेख का उत्तरदायित्व इन निकम्मे कंधों पर रख दिया था! हाय! मेरी वह आडम्बर-पूर्ण वीरता! हाय, मानवीय प्रवञ्चना!!—पर उस समय मैं अपनी अयोग्यता का विचार न कर सका था।

बालिका सावित्री और उसकी सरला माँ ने मेरी बातों का विश्वास कर लिया था। उस समय तो मुझे भी यही जान पड़ता था कि संवेदनाश्लिष्ट त्याग ही परम पवित्र वस्तु है। कर्तव्य के साथ जब निवृत्ति के भाव का समन्वय हो जातो है तो लोग उसमें स्वर्गीय सौंदर्य और महनीय आदर्श का दर्शन करते हैं। इन्हीं आदर्श भावनाओं से प्रेरित होकर उस समय सावित्री के रूप-लावण्य की खोज मैंने अनावश्यक समझी थी और उसके जिन सरल एवं लज्जाजनित-भावों से मनस्तुष्टि कर ली थी, उन्हें मैं अपने अस्थिर चित्त में स्थायी न कर सका। हा!

मनुष्य को अमानुषिक छलना ! धिक्कार उसके दोहरे व्यापारों को !

मैंने उसे आश्वासन ही क्यों दिया था ? संसार में जिस विधाता ने उसकी सृष्टि की थी, उसने उसके लिए किसी अवलंब का निर्माण भी कर ही दिया होगा। मैंने उसी आश्रय का द्वार ठेलकर क्यों अवरुद्ध कर दिया, और फिर दूर होगया। जो हरिणी अपने परिवार के एकान्त-शान्त तपोवन में स्वच्छन्द होकर विचरण करती थी, उसे मैंने मरुस्थल के मरीचिकापूर्ण प्रदेश में क्यों लेजाकर छोड़ दिया ?

❀ ❀ ❀ ❀

सरिता के इसी दुकूल पर क्षीणकाय पवित्र बाला सावित्री पञ्चतत्व में मिल गई ! संसार की प्रवञ्चना से दूर, छलना से अस्पृश्य और स्वार्थ से अज्ञान, परित्यक्ता, उपेक्षिता, निरादृता बेचारी को आज सुरपुर में प्रवेश की आज्ञा मिल गई। जब तक वह जीवित थी, मुझे चैन था। उसकी सरल पवित्रता मेरे अत्याचार के कालुष्य को प्रार्थना के आँसुओं से धो देती थी। मेरी प्रसन्नता का, मेरे आनन्द का शायद यही कारण था। अब वह नहीं

है तो उत्पीड़न के पाप की ज्वाला से मैं स्वयं जलने लगा हूँ। स्वजनों की प्रशंसा, संसार का यश, घर का वैभव इस समय कोई मुझे शान्ति नहीं दे सकता।

'वह यदि मैं होती'—हा, उसके ये अन्तिम शब्द कहीं सच होते ? पर नहीं, यह सोचना उसकी पवित्र-पावन आत्मा के लिए बुरी कामना करना है। 'वह' भला 'मैं' किस तरह हो सकती थी ? उसने सोचा था और उसने कहा था, इसलिए मैं भी कहता हूँ—'वह यदि मैं होती' तो इस मृत्युलोक में स्वर्ग की लीला का अभिनय होता। कलह और विरोध, घृणा और अधर्म की जगह स्नेह और सौजन्य, हित और सरलता, प्रेम और कर्तव्य का प्रशस्त-साम्राज्य होता। वसुन्धरा के पावन वक्षस्थल को भार से दबा देनेवाला स्वार्थी मनुष्य देवता कहलाता।

उसके रहने पर उसका मेरे पास कुछ नहीं रहा। वह नहीं रही तो एक अनन्त हाहाकार से हृदय और मस्तिष्क दोनो परिव्याप्त हो गये हैं। मैं जल रहा हूँ। हृदय सुलग रहा है। आँखें झुलस रही हैं। उसकी याद चिता की ज्वाला बनकर चारों ओर से मेरे शरीर में लिपट रही है किन्तु मुझे सुख है। एक प्रकार का शुचितम आह्लाद है।

इस मनोवेदना में, इस दुर्दान्त पीड़ा में प्रसन्नता की सुनहली और रुपहली किरणें हैं। किन्तु वे हैं बहुत दूर—जहाँ पहुँचने की कोई संभावना नहीं—पर मैं उसी ओर धीरे-धीरे खिंच रहा हूँ।

यह जलन नहीं, प्रायश्चित्त है।

——

विवाहिता कुमारी

(१)

ल खिलना जानता है और मुरझाना भी। शैवालिनी हँसना जानती थी, रोना नहीं। मुसकान ही उसके अधरों पर खेली थी। आँसू ने उसके कपोल का स्पर्श नहीं कर पाया था।

बसन्त कली का शृङ्गार करता है; आशा ने उसके मन को सुरभित किया था। कौमुदी कुमुदिनी की शोभा निखारती है; सरल भोलेपन ने उसके हृदय को मञ्जुल किया था।

उसका शरीर कुन्दन की तरह नहीं, हलकी बदली की तरह था। उसका मुख चन्द्र की तरह नहीं, सुरमई संध्या की तरह था। उसका केश-विन्यास कुसुम-गुम्फित नहीं, शैवालजाल की तरह था। उसकी उँगलियों में कलियों का सौकुमार्य और सौंदर्य नहीं, कशीदे की पटुता थी। उसकी आँखों में कटाक्ष का विलास नहीं, थी सरल चित-वन की स्निग्ध रमणीयता। ।उसका कंठ कोयल की तरह नहीं, मयूरी की तरह था। उसका गान प्रेम-संगीत की तरह नहीं, प्रार्थना की तरह था। वह कल्पना और कवित्व की तरह नहीं, धर्म-शास्त्र की तरह थी। वह देवी नहीं, मानवी थी। उसका शरीर नहीं, मन सुन्दर था।

उसने अपना हृदय अपने प्रेमी बसन्त को दे रक्खा था। उसी तरह, जैसे माधवी लता अपने फूलों का हार माली को उतार देती है। उसने अपने मन के मन्दिर में बसन्त की मूर्ति चित्रित कर रक्खी थी। वह उसकी आँखों का बन्दी था और उसके निराले शैशव और सरल भोलेपन का दास।

शैवालिनी के माँ नहीं, विमाता भी न थी। था केवल एक पिता। पिता के आँगन को उसके दूसरे बहन

या भाई ने कभी अपनी हँसी से आलोकित नहीं किया था। वही उस घर की अकेली दीप-शिखा थी। नीम और आम की छाया से आच्छादित और बगीचे से घिरा हुआ उसके पिता का घर महर्षि कण्व का-सा छोटा-सा आश्रम था। शैवालिनी शकुन्तला थी। मृग-छौना उसने पाल रक्खा था। लताओं को उसने सींच-सींचकर बढ़ा रक्खा था। कभी उसके एक सखी भी थी। उसका नाम था मालिनी। बड़ी हितैषिणी, बड़ी प्यारी और बड़ी स्नेह-शीला। बचपन की उसकी वह सखी एक मधुर स्मृति छोड़कर अपने भाई के साथ कहीं चली गई थी। बरसों के परदे ने उस स्मृति-पट को झीना कर दिया था। उन दिनों बसन्त ही मनो-जगत का सुधांशु था।

(२)

उसका विवाह कहाँ हुआ था? नौ साल की लड़की के सामने ग्यारह साल की उम्र का लड़का कहाँ जँचता है? तिस पर बसन्त नववधू की तरह लजीला, कुमुदिनी की तरह संकोच-शील, कपोत की तरह भोला और सरोज की तरह सुकुमार था। उसके स्नेह में मृदुलता थी, स्वभाव में सादगी थी और व्यवहार में सौजन्य। उसके गुण

शैवालिनी को भाते थे। उसके पिता को पसन्द थे। अतः विवाह न होने पर भी वाग्दान होगया। शैवाल ने तो उससे भी पहले बसन्त को अपना समझ लिया था।

ओह! कैसी सुन्दर समझ थी, और कैसी अनुपम धारणा। एक दिन शैवाल के चुने हुए फूलों की माला पहनकर बसन्त ने एक गाना गाया। कैसा सुन्दर था वह गान! कैसी मधुर थी वह स्वर-वीणा! लेकिन उसका भाव अच्छा नहीं था, शैवाल के कानों को खटकता था। उसमें महत्वाकांक्षा की ध्वनि थी; यश की कामना थी और उन्नति का भाव।

शैवाल उदास होगई। झुकी हुई लता का पुष्प-गुच्छ उसके गुलाबी कपोलों का स्पर्श करता हुआ कब से झूल रहा था। उसे तोड़कर उसने बखेर दिया। मृगछौना फूलों की दो एक पंखुरियाँ मुँह में लेकर उसे प्यार करने आया था, उसे भी उसने मना कर दिया। बसन्त यह भाव-परिवर्तन समझकर बोला—शैवाल, तुम्हारा यह ढंग ठीक नहीं है। देखो मेरे भाग्य की रेखायें। मुझे सम्राट का मुकुट धारण करना है।

शैवाल ने रूठकर कहा—तो जाओ, करो न।

बसन्त—और तुम्हें मेरी रानी बनना है।

शैवाल—भाग्य में है तो यहाँ भी सम्राट बन जाओगे, न होगा मैं यहीं पिता से कहकर तुम्हें एक सुन्दर मुकुट बनवा दूँगी। उसे पहनकर यहीं पहाड़ियों पर घूमना, हरियाली पर शासन करना—मैं ऐसी ही रानी बनना चाहती हूँ।

दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। बात यहीं रह गई।

(३)

बसन्त को सम्राट बनने की धुन थी। शैवाल के पिता सहमत थे। शैवाल राजरानी होगी, ओह! उनके गौरव का क्या ठिकाना? आदमी के मन के क्रांतिमण्डल के लिए विधाता का यह विश्व भी क्षुद्र है। नारी का त्याग और पुरुष की कामना दोनों ही निस्सीम पदार्थ हैं। एक की सार्थकता पहले में तो दूसरे की अन्तिम में ही है।

एक दिन शैवाल के पिता ने अनेक आशीर्वचनों के साथ उसे, वसन्त को, विदा कर दिया। शैवाल को दोनों ने बतलाया—उसका जाना बहुत थोड़े समय के लिये है, इतने थोड़े समय के लिये जितने में कोई बालिका मिलनोत्कण्ठा से पगली नहीं हो सकती।

चलते-चलते बसन्त ने एकान्त में गलबाहीं देकर उससे कहा—तुम डरो नहीं, विवाह से पहले हम दोनों मिल जायँगे।

शैवाल तो विवाह की कुछ आवश्यकता ही न समझती थी, पर उन दिनों उसकी चर्चा इस जोर से चल रही थी कि उसे भी ख्याल हो गया जैसे वह तिथि अब बहुत दूर नहीं है। वह यहीं कहीं आने के लिये तैयार बैठी है। बहुत संभव है, नदी में उस पार पड़ी हुई डोंगी पर चढ़कर वह कल ही किसी समय आकर द्वार खट-खटाने लगे।

इतने थोड़े समय में वह जाकर कुछ कर आयेगा, जिससे हम लोगों का जीवन सुखमय होजाय तो बड़ी अच्छी बात है। वह चला जाय। मैं कभी उसके मार्ग की दीवार नहीं बनूँगी।

मुहूर्त पूछकर वह जाने लगा तो शैवाल ने हँसी-खुशी उसे बिदा दी। केवल विलग होते समय आँखों के कोने ओस से फूल की तरह भीग गये थे। हर्षोत्साह के साथ रोने का यह सामान बड़ा ही विचित्र था।

(४)

उसकी प्रतिज्ञा को लेकर कई पत्र आये, पर उसके दर्शन का मंगल-मुहूर्त कहीं मार्ग में ही सो गया। उसके आने में इतनी देर लगी कि कली का एक-एक अरमान हवा के झोंके के साथ उड़ गया। शैवाल—प्रेम-पुत्तलिका शैवाल की उम्र अपना रास्ता तय करती हुई आगे बढ़ने लगी।

समाचार मिला—वह अगले साल आवेगा। उस महीने में तो वह अवश्य ही चल देगा। अमुक तिथि के प्रातःकाल की प्रथम किरण के साथ उसके प्रस्थान होने का मुहूर्त है। वह निश्चित समय पर अपने स्थान से प्रयाण कर चुका है। मार्ग ने उसके स्वागत को घास की चादर ओढ़ रक्खी है। आकाश ने इन्द्र-धनुष की लहरोंवाले बादल के वस्त्र पहन लिये हैं। दिशाओं ने दक्षिण-पवन की साड़ी से अपने को सवसना कर रक्खा है। पहाड़ियों ने फूलों की आँखें खोलकर उसके स्वागतार्थ अपूर्व बन्दन-वार सजा रक्खी है। वह आज नहीं तो कल और कल नहीं परसों उदित-शशि के साथ-साथ अवश्य ही शैवाल के द्वार पर पहुँच जायगा।

शैवाल ने भी जुही और चमेली, गुलाब और मौलसिरी, बेला और निवाड़ी के फूलों की मालाएँ गूँथ-गूँथकर रेशमी पुरट-पट से ढक रक्खी थीं। हृदय के सुकोमल स्थलों से कितने अरमान चयन कर रक्खे थे। हाय ! पर सब कुछ पड़ा रह गया। सुना गया कि वह आकर भी लौट गया। कोई बहुत आवश्यक काम था। इतना आवश्यक कि जिसके समक्ष शैवाल का मूल्य कुछ भी न था। शैवाल रो पड़ी। अपने हृदय को दबा लिया। बोली—अपने दुर्भाग्य को क्या करूँ ? किन्तु नहीं उनका जाना ही ठीक है जिससे उनके मन की आकांक्षाएँ पूर्ण हो जायँ। उन्हें मुकुट मिल जाय। राजछत्र उनके ललाट पर सुशोभित हो। मेरा भी तो ललाट तब सूना नहीं रहेगा।

फिर सुनने में आया—महाराज ने उन्हें गोद ले लिया है। महाराज मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। शीघ्र ही अब वे महाराज के पद पर अभिषिक्त होंगे। शैवाल व्यग्र हो उठी, वह सोचने लगी—अब मैं लड़कपन की पगली नहीं हूँ जो उन्हें राजपाट छोड़कर चले आने को सलाह दूँ। नहीं, अब वे सम्राट हों क्योंकि मुझे भी तो साम्राज्ञी होना है।

(५)

पूरे उन्तीस साल के व्रत-नियम भी बसन्त को शैवाल के पास न लासके; पर क्या एक क्षण को भी उसे निराशा हुई। सूर्य का, जान्हवी का, विष्णु का, इन्द्र का और मरुतों का ध्यान भी उसे एक पग आगे न बढ़ा सका; पर कोई भी उसके कोप का भाजन न बना।

श्रावणी पूर्णिमा का पर्व था। सूर्य अपनी सुनहली किरणों को काली घटा की बदली से अस्ताचल की ओर खींच रहे थे। शैवाल दीपक जलाकर भागीरथी की आरती करके ज्योंही ऊपर आई त्योंही उसे मालूम हुआ कि उसके घर पर कोई अतिथि आया है।

शैवाल चौंक पड़ी—मेरे घर पर और अतिथि! संसार की भयावह विपत्तियों ने भी जहाँ का आतिथ्य स्वीकार करने का यत्न नहीं किया वहाँ कौन आयेगा? मुझे कौन जानता है इस संसार में? स्वर्ग से लौटकर कोई अतिथि होने को आता नहीं। पिता-माता दोनों ही स्वर्ग पहुँच चुके हैं। राजमुकुट मस्तक पर धारण करके पूरे उन्तीस साल बाद क्या कोई आ सकता है?

शैवाल का हृदय धड़क उठा। उसकी संवेदनशिराएँ

बिजली से व्याप्त हो गई। अतिथि! अतिथि!—करती हुई वह मन्त्र-मुग्ध-सी अपने घर की ओर चली, पर वास्तव में उसे अपने शरीर का भान नहीं था।

द्वार के सामने संध्या के अन्धकार में एक परछाईं हिल रही थी। दूर पर लता-वृन्तों की छाया में, सघन बन्य-प्रदेश आलोकित हो रहा था। पृथ्वी पर चलती हुई शैवाल धीरे-धीरे आकाश में उठने लगी। उसे प्रतीत होने लगा कि आज कण्व का आश्रम दुष्यन्त के आगमन से महोत्सवमय हो उठा है। उसके चालीस सालवाले वयस्क शरीर में मुग्धा शकुन्तला के मधुर हावभाव तरंगित होने लगे। उसे प्रतीत होने लगा जैसे सचमुच ही उसका वल्कल-वसन चलते-चलते करील के काटों में उलझता जाता है।

द्वार के समीप पहुँची तो पुरुष नहीं किसी स्त्री की छाया आसनासीन थी। शैवाल मन की अवस्था को मौन के आवरण में लपेटे उस मानवमूर्ति के सामने जा खड़ी हुई और उसे पहचानने का यत्न करने लगी। छाया हिली, साड़ी की सरसराहट और आभूषणों की मधुर झनकार के साथ एक रमणी उठकर खड़ी हो गई और उसने बढ़-कर पुकारा—शैवाल, मेरी प्यारी शैवाल! सखी, कहो

तुम अच्छी तो हो ?—वह बढ़कर शैवाल के शरीर से लिपट गई।

सहसा शैवाल के मुँह से भी निकल गया—मेरी प्यारी मालिनी ! तुम अबतक कहाँ थी ?

"कहाँ कहूँ बहन, दुनियाँ की ऊँची-नीची तरंगों का उत्थान-पतन देख रही थी। यश और आनन्द, आशाएँ और उनकी पूर्ति में भी मनुष्य को संतोष नहीं होता। वह सदा अप्राप्य की आशा में भटकता रहता है। अभाव भाव के लिए छटपटाता है और भाव अपने उस अभावमय जीवन को ओर सतृष्ण रहता है।—हाँ, और तुम कैसी रहीं ?"

"मैं, मुझे तो तुम देख ही रही हो। मेरे जीवन में पर्वत को अचलता, तपोवन की साधना और तूफान की अशान्ति का एक अद्भुत मिश्रण सदा ही बना रहा है।"

"वही तो देखती हूँ बहन, तुम इतने ही दिनों में सन्यासिनी-सी दिखने लगी हो। यह क्यों ?—और तुम्हारा वह बगीचा कैसा है ? मैंने और तुमने जो आम के पेड़ लगाये थे वे कैसे हैं ?"

एक प्राचीन स्मृति शैवाल के अन्तःप्रदेश को मथने लगी। वह बोली—सखी, वे वृक्ष तो अब पहाड़ी की चोटी

से बातें करने लगे हैं । उनके शैशव की याद तो मेरे मन में भी एक कहानी हो गई है ।—और बहन, अपना वह हिरन का बच्चा, हाय ! बेचारा कैसा सुन्दर था, कभी का मर चुका है । उसके कारण अब उन मंजरी से झुके हुए वृक्षों के पास जाने को जी नहीं करता है ।

मालिनी ने कुछ रुककर कहा—उसकी अधखुली आँखें तो अभीतक मुझे याद हैं, और उसका वह फुदकना हाय ! कैसा सुन्दर था । एकाएक शैवाल को सखी के ये शब्द याद आ गये 'कि तुम कैसी सन्यासिनी-सी दिखती हो ?' उसके दिल पर ठेस लगी वह तो अबतक अपने को भावी साम्राज्ञी ही समझ रही थी ।—लेकिन उसने कुछ कहा नहीं ।

दोनों सखियाँ बड़ी देर तक अपने गत जीवन की बातें करती रहीं ।

थोड़ी देर में तीन-चार अंगरक्षकों के साथ दो बालक आये । शिरीष से कोमल और गुलाब से प्रफुल्ल । उन्हें आते देखकर मालिनी ने कहा—बहन ! ये तुम्हारे ही बच्चे हैं । बड़े को स्वामी ने आने नहीं दिया है । वह अपने पिता को बहुत प्यारा है । फिर बच्चों से कहा—विमू !
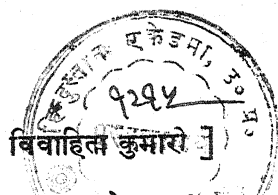
अपनी मौसी को प्रणाम करो। किशनू ! तुम भी प्रणाम करो।

लड़कों ने माँ की आज्ञा का पालन किया। शैवाल ने बारी-बारी से दोनों को चूमकर आशीर्वाद दिया। उसकी सूनी गोद आज मातृ-स्नेह से पवित्र हुई।

मालिनी ने बच्चों को भेज दिया, आप थोड़ी देर और बैठी रहो।

माता-पिता की मृत्यु के दुख-सुख के साथ विवाह की बातें चल पड़ीं। मालिनी ने शैवाल से पूछा—बहन, और तुम्हारा विवाह कहाँ हुआ है ? वैवाहिक जीवन की कुछ बातें कहो।

शैवाल ने कहा—विवाह तो हो गया है, पर स्वामी दिनों से विदेश चले गये हैं। कब आते हैं, उन्हीं की प्रतीक्षा में हूँ।

मालिनी—मैं तीर्थ यात्रा को निकली हूँ तुम अपने स्वामी का पता मुझे देना। मैं अवश्य ही उन्हें घर भेजूँगी। बड़े दुख की बात है मैं तुम्हारे स्वामी से परिचित नहीं हूँ, पर तुम तो बहन मेरे स्वामी से भली भाँति परि-चित हो। हमलोग अक्सर तुम्हारी चर्चा चलाकर बीते

दिनों की याद करते हैं। उसने अपने स्वामी का परिचय दिया। उसी के हृदयेश्वर को अपना स्वामी बनानेवाली उस बाल्यसहचरी को शैवाल भला स्वामी का क्या परिचय देती ?

उसका शरीर काँपने लगा। पैर के नीचे की पृथ्वी खिसकने लगी। सिर पर आकाश घूमने लगा। सारा संसार अंधकार से आच्छन्न हो गया। उस अन्धकार में मालिनी के कान्तिमान मुखमंडल को देखकर शैवाल को प्रतीत हुआ कि वह अवश्य ही साम्राज्ञी और मैं सन्यासिनी नहीं, पथ की भिखारिणी हूँ।

कुछ देर ठहरकर मालिनी ने विदा ली। उसको समय नहीं था प्रातःकाल प्रस्थान करना था और इधर शैवाल का हृदय अपना स्थान छोड़ रहा था। वह दुख से दीन हो रही थी। उसी दशा में उसने अपनी सखी को विदा दी, कह दिया—स्वामी का पता और परिचय सब लिखकर भेज दूँगी।

(६)

क्षुब्ध, प्रताड़िता, विरह-विधुरा, अपमानिता और तिरस्कृता शैवाल शून्य आकाश की ओर दृष्टि लगाये अपने

पूर्व जीवन को प्रत्यक्ष कर करके देखती और दुखी होती रही। दुख, कोप और ग्लानि के विमिश्रित भावों से उसका मन भर गया। वह सोचने लगी—मेरे विश्वास ने मुझे धोखा दिलाया है। दुनिया के उपन्यासों, कहानियों और इतिहासों—सभी में तो अनेक बार भोली-भाली कन्याओं के ठगे जाने के रोचक वृत्तान्त लिखे हैं। मेरी सरलता ही ने मेरे सुख का ग्रास कर लिया; पर नहीं, उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। अपराध का दण्ड तो उन्हें मिलना ही चाहिए; किन्तु एक भिखारिणी के लिए एक सम्राट् को दंड देने का कौन साहस करेगा? मैं तो कुछ नहीं कर सकती। हाँ, एक पत्र लिखकर अच्छी तरह उन्हें फटकार सकती हूँ। बस, मैं एक कड़ा-सा पत्र उन्हें लिखती हूँ।

कहीं भूल से ग़लती हो गई हो, और वे उसका प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो जायँ? कहीं वे मेरे आँसू पोंछने के लिए, ग़ुस्सा शान्त करने के लिए, दौड़कर मेरे पास आ जायँ, तब मैं क्या करूँगी? जो बात हो चुकी है, वह लौट नहीं सकती। मुझे जब क्रोध करना चाहिए था, तब की वे घड़ियाँ तो यों ही चली गईं। अब

अभिलाषाओं की समाधि के लिए उन्हें चिन्तित करने की आवश्यकता ही क्या है ? पर जब आज उनका पता मिल गया है तो मैं उन्हें एक पत्र ज़रूर लिखूँगी। हाय! पर लिखूँ क्या ? यह भी तो समझ में नहीं आता।

उन्होंने मुझे रुलाया तो बहुत है, पर अब उस चर्चा का समय कहाँ ? मैं उनके हृदय को दुखाऊँगी नहीं। तो अब कौनसा अरमान बाक़ी रह गया है ? जिसके लिए कुछ लिखने बैठूँ। व्यर्थ है, सब व्यर्थ है। हाँ, एक बात लिख सकती हूँ। वह मेरे जीवन को अन्तिम अभिलाषा है। मेरा समस्त जीवन एक स्वप्न का खेल ही तो रहा है। संभव है, गोधूलि के इस धुधँले प्रकाश में सत्य से स्पर्श हो सके तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगी। बस, इसीलिये लिखूँगी।

कुमारी होकर भी मैं जिनकी बनी रही हूँ, उन्हें मैं अवश्य लिखूँगी कि वे उसी तरह मुझे पुत्रवती होने का सुख दिखा दें। उनके तीन बच्चे हैं। एक मेरे पास आजायगा। ओ हो ! कैसा सुन्दर होगा, वह बालक। उसकी मीठी तोतली बोली में कितना स्वाद होगा। मैं छक जाऊँगी। मुझे सब कुछ मिल जायगा।

पत्र तो लिख गया। मेरी दशा से वे मर्माहत अवश्य हो जायँगे। उनके नेत्रों में दया झलक उठेगी। इसके वाक्य-वाक्य में व्याकुल कुररी का क्रन्दन है। इसकी पंक्ति-पंक्ति में वेदना की मूक रागिनी है और उनका हृदय भी तो पत्थर का नहीं। उसमें शील है, सहृदयता है। वह अवश्य पिघल जायगा—पानी-पानी हो जायगा। मेरे भाग्य के सितारे का वह शीर्ष-विन्दु होगा। संवेदना के आकाश में उसका उदय होगा और दया के वातावरण में पोषित होकर उसकी शीतल स्निग्ध किरणें मेरे शुष्कप्राय अन्तःकरण में सुधा-सिंचन करेंगी। यह पत्र उनके हाथ में होगा और मेरा पुत्र मेरी गोद में। तो क्यों न इसे भेज दूँ? अभी भेजती हूँ, पर क्या मैं जीवन-निशा के समस्त पहरों में एक सुन्दर स्वप्न नहीं देख सकती हूँ? प्रणय की भिक्षा माँगकर अब पुत्र की भिक्षा माँगने का साहस नहीं हो रहा है। अभी तक मैं उनकी साम्राज्ञी बनने का स्वप्न ही तो देख रही थी। वह जाग्रत और प्रत्यक्ष से कितना भला था!

बस, मैं अपने प्रेम-पत्र की इस अभिलाषा को स्वप्न ही से प्रत्यक्ष कर लूँ तो कितना सुन्दर हो! जैसे मैंने उन्हें अपना सर्वस्व मानकर जीवन-निशा बिता दी।

उसी प्रकार यह भी मान लेती हूँ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। पुत्र को मेरे पास भेज दिया है। मैं उसे खिलाती हूँ। दुलारती हूँ। वह किलकिता है। हँसता है। मुझे माँ-माँ कहता है। मेरा यह स्वप्न नहीं, कल्पना नहीं, परम सत्य है। पत्र लिखते ही तमाम काम बन गया तो अब उसे क्यों भेजूँ ? भिखारिणी को बिना माँगे मोती मिल गया तो वह क्यों याचना करे ? चालीस वर्ष की अवस्था में लालसाओं की सुनहली स्याही से लिखा हुआ मेरा यह प्रेम-पत्र लेटर-बक्स में नहीं, मेरे रत्न-जटित आभूषणों के साथ सुहाग की गुलाबी साड़ी में तह किया हुआ बड़ी हिफ़ाज़त से रक्खा रहे। क्योंकि, इसमें मेरे सुखमय जीवन का स्वर्णिम आलोक स्मृति के रूप में बिखरा हुआ है। शैशव काल में जिन सुकमार कुसुमों का चयन किया था। उन्हीं को पूर्वानुराग के रेशमी सूत में फिर विरह के मखमली धागे में सुबह से शाम तक गूँथ-गूँथकर सुरभित दिव्य हार तैयार किया था और जिसे अब तक उरान्तर में छिपाये हुए थी, आज—आज वही तो बिखरकर इस पर आपड़ा है। फिर इसे लेटर-बक्स में क्योंकर डालूँ ! इसमें मेरा सुख है। मेरी स्मृति है। मेरा

सर्वस्व है। यह मेरी आँखों के सामने ही रहे तो अच्छा। इसी से इसे रख लेती हूँ। यह रहे मेरी सुहाग की साड़ी में, क्योंकि इसने मुझे रही-सही लालसा का साक्षात करा दिया है।

शैवाल ने बड़े यत्न से मोड़कर वह पत्र तार-तार होरही अपनी सुहाग की साड़ी में रख लिया। उस समय उसके आनन्द का ठिकाना नहीं था। सचमुच ही अनिर्वचनीय हर्ष से उसका कलेवर शिथिल होरहा था। रात्रि के प्रथम दो प्रहर व्यतीत हो चुके थे। उसके गृह की दीपशिखा धीरे-धीरे मलिन होरही थी सुदूर। वनान्त में राजमहिषी मालिनी देवी के प्रस्थान की तैयारियाँ हो रही थीं। दो कोमल बालक उनके अञ्चल से खेल रहे थे। शैवाल भी अपने कल्पना-प्रसूत पारिजात-कोमल पुत्र का धीरे-धीरे, हँस-हँसकर, थिरक-थिरककर चुम्बन कर रही थी। उसका सुख कितना सत्य और रमणीय था!

डाक-मुंशी

(१)
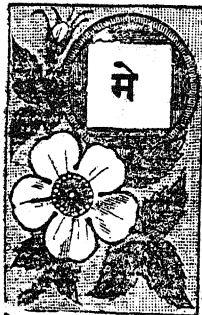
रा भाग्य उलटा है या सीधा ? यह सदा मेरे लिए एक उलझी पहेली रहा है। मैं कभी उसे सुलझा कर समझ न सका। कभी एक क्षण के लिए भी उसकी मीमांसा न कर पाया। तृप्ति की साँस लेकर, अपने विषय में, स्वस्थ चित्त से, कभी मैंने निश्चिंत विचार-धारा में नहाकर मन की हरारत को मिटा न पाया।

शैशव आकाश में उड़ा था, सुनहले स्वप्नों में खेला था। जवानी अमावस के अंधकार में बड़ी हुई, विधवा की करुण-शून्य निराशा में उसने स्वास्थ्य की स्वाँसें लीं। अंतर, व्यवधान! विधाता की लीला देखिए। सब कुछ देकर कुछ भी न दिया, और कुछ भी न देकर इतना बहुत सामने डाल दिया है—मैं आँखों में जिसे भर नहीं पाता हूँ, दृष्टि के अंचल से जिसे बटोर नहीं पाता हूँ।

मैं नया डाक-मुंशी हूँ। यह नौकरी मुझे अनायास मिल गयी है, इसी से मैं यह भी तय नहीं कर पाता हूँ कि यह मेरे सौभाग्य का चिह्न है, या अभाग्य का फल? मैं सचमुच इसके लिए तैयार न था। यह आप ही आकर गले पड़ गयी। धन छोड़ते भी नहीं बनता है। सच पूछो तो छोड़ने की इच्छा भी नहीं होती।

मैंने ग़रीब के घर जन्म लेकर रईस की लड़की का पाणिग्रहण किया था—उस उमर में जब शादी एक खेल थी। मैं ग्यारह बरस का था, मेरी स्त्री, जयन्ती सात बरस की। उस वक़्त मुझे इतना ही मालूम था कि यह जोड़ी मिलाने के लिये मेरे ससुर ने मेरे बाप से मुझ मातृ-हीन को ख़रीद लिया था। अमीर को ग़रीबी पर जो

घृणा और नफ़रत होती है, उसीसे मैंने बार-बार अपनी जन्म-तिथि की अभ्यर्थना की थी। मैं मोटर पर घूमता था। घर पर तीन-तीन मास्टर लगे थे। एक अँगरेज़ी पढ़ाता था, एक हिसाब और एक मातृ-भाषा। लेकिन स्वप्न की वह सुनहली रात बहुत थोड़े दिन रही। आज-कल करते-करते मेरे ससुर मेरे लिए कुछ भी न कर सके। न-जाने कौनसा संशय या संस्कार उन्हें रोकता रहा। लेकिन उनकी यह अभिलाषा अवश्य थी कि जयंती और मेरे सिवा उनका उत्तराधिकार किसी को न मिले। उनकी अभिलाषा उन्हीं के साथ चली गयी। माँ-बाप-हीन, भिखारी (मेरे बाप मर चुके थे) के भाग्य के साथ सुकुमारी दुलारी जयंती का भाग्य भी विडम्बना के सूत्र में गुँथ गया। हम दोनों अबोध और अनभिज्ञ थे। यकायक ससुर चल बसे। कोई ट्रस्ट नहीं बनाया, कोई लिखा-पढ़ी नहीं की—किसी से कुछ कहा भी नहीं। हम दोनों रोते रह गये। जयंती के चाचा ने हम दोनों को रोने भी न दिया।

स्वार्थ अंधा तो होता ही है, वह हृदयहीन भी होता है। उसे अनाथों और दुखियों की सिसक की अनुभूति होती ही नहीं। जयंती को चाचा ने घर पर रख लिया,

और मुझे बाहर जाकर रुपया कमाने की सलाह दी। अनंत संपत्ति के उत्तराधिकारी को भी कभी-कभी उदर-पोषण के लिए जीविकोपार्जन की ज़रूरत पड़ जाती है। परिस्थितियाँ सब कुछ करा लेने को क्षमता रखती हैं।

मेरी उम्र के आदमी सिवा स्काउटिंग के और किसी उपयोग में शायद बहुत कम आते हैं; पर हमारे ससुर के सहोदर की दृष्टि में मुझे घर पर बिठाकर खिलाना और मेरे लिए पढ़ाई में कुछ ख़र्च करना दोनों ही फ़िज़ूल थे। जिसकी संपत्ति पर सबका भरण-पोषण होता था, उसी के लिए रोटियों का टोटा था!

न-जाने क्यों अबतक मैं चाचा को बिलकुल निरक्षर समझता था; पर आज देखता हूँ—उन्हें भविष्य की लिपि का अच्छी तरह ज्ञान था। वे विधाता की हरएक बात को अच्छी तरह समझते थे। उन्हें मालूम हो गया था कि मेरा अतीत और भविष्य दोनों एक तरह के थे। अमावस की रात में बिजली की चमक की तरह, एक क्षणस्थायी आलोक-रेखा मेरे जीवन में कहीं से आ गयी थी; पर उसका अदृष्ट हो जाना ही निश्चित था। क्योंकि वह मेरे भाग्य का फल नहीं, जयंती के भाग्य का फल थी; पर मेरे

दुर्भाग्य का प्रबल आकर्षण उसे भी मिटा देने में समर्थ हो गया। अंधकार, केवल अंधकार शेष रह गया !

(२)

कानपुर के एक अढ़तिया से मेरे श्वसुर की बहुत रब्त-ज़ब्त थी। मेरे भाग्य को बदलने में उसकी इच्छा तो नाममात्र को ही थी, विशेष प्रयत्न था मेरे चाचाजी का। इस वास्ते यहाँ सबके आगे उस बेचारे के निष्कलंक नाम को लेने को ज़रूरत ही क्या ?

हाँ, तो सिवा जयंती के और सब लोगों की इच्छा चाचा की बात का समर्थनमात्र थी। मेरे चाचा के एक भी लड़का या लड़की नहीं थी, और जयंती मेरी बालिका पत्नी, को खेलने के लिए एक साथी की ज़रूरत थी। बस, वही मेरे प्रस्थान से दुखित थी। मैं उस समय उसकी मनोव्यथा ठीक तरह नहीं समझ सका। यदि समझता, तो शायद मैं कानपुर पहुँचने के लिए उतना उत्सुक न होता। मेरे चाचा ने मेरे मन में कानपुर का कैसा सुन्दर चित्र अंकित कर दिया था। मैं तो उस समय इसी धुन में था कि कब कानपुर देखूँ। आख़िर मैं घर से चल पड़ा या चलने को विवश होगया। उस समय मेरी अबोध अधीश्वरी रूठकर

एक कोने में जा बैठी थी। मैं उसके पास गया—अपने हृदय के साहस को बटोरकर कहा—मैं जाऊँ ?

जवाब कुछ भी नहीं।

मैंने फिर कहा—तुम्हारे लिये कानपुर से क्या लाऊँ ?

उसने एक ओर को मुँह फेर लिया।

मैंने सप्रेम स्निग्ध कंठ से पूछा—गुड़ियाँ ? खिलौने ? बोलो जयंती, क्या लाऊँ ? ओह, तुम तो बोलती ही नहीं ?

कठिन, नीरव निश्चल चट्टान के नीचे अनंत श्रोत छिपा रहता है। मौन भी वैसो ही एक प्रकार की चट्टान है। उसे ज़रा छेड़ने से अन्दर को जल-राशि तुमुलरव के साथ निकल पड़ती है। जयंती रो पड़ी। उसकी सरल-कोमल हँसी जिन गालों पर हरदम नृत्य किया करतो थी, वे भीग गये।

मैं भी अभी बच्चा था, पर मेरा हृदय काफ़ी वयस्क था। वह मनोभावों की गति समझता था। वय का बहुत कुछ संबंध अनुभव के हो साथ है। मैं भी रा पड़ा। क्यों ? यह मैं नहीं जानता; पर मेरा हृदय जानता है।

हम दोनों देर तक रोये। दोनों की आँखें कपड़ों में छिपी थीं। यकायक जयंती ने अंचल हटा लिया। आँखों

को अजीब तरह से घुमाकर, टेढ़ी-मेढ़ी नज़र से ताककर कहा—जाओ न, जाते क्यों नहीं ?

आँखों का यह संचालन, भृकुटि का यह विलास उसके ग़ुस्से का प्रदर्शन था। मैंने कहा—मैं तो न जाऊँगा न, कहीं न।

उसने बिलकुल नये ढंग से उछलकर पूछा—सचमुच ? उसके बालों की एक सुनहली लट छिटककर उसके सजल बड़े-बड़े नेत्रों पर आ गयी थी।

उसी समय चाचा ने पुकारा—चल रे चल, महेश ! क्या देर-दार कर रहा है ?

उसने बालों की लट को अपने बाँये हाथ से सिर के पीछे खिसकाकर मेरे चेहरे की तरफ़ देखा—उसकी मूक-दृष्टि में अनेक प्रश्न थे।

मैं चौंककर उदास हो गया। हवा के झकोरे में दीपक भी तो तिलमिला जाता है।

जयंती मेरे संकट को समझ गयी। जाओ, तुम जाओ, कहकर वह अपना मुँह छिपाकर जल्दी-जल्दी वहाँ से चली गयी।

मेरे हृदय को बड़ी ठेस लगी। क्रोध में मैंने सोचा—कानपुर न जाऊँ। क्यों? वहीं जाना तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। ओह, वह कैसा सुन्दर शहर होगा? कितना जीवन और कितना आनंद! यहाँ क्या है? व्यर्थ के खेल, पढ़ने-लिखने के बंधन, चाचा-चाची की लाल-पीली आँखें। जयंती तू मूर्खा है; पगली है; अपने जीवन के साथ मेरे जीवन का आनंद भी नष्ट कर देना चाहती है। चालाक छोकड़ी! स्वार्थांध पत्नी !!

(३)

कानपुर आकर कानपुर की दशा को समझा। शहरों की तड़क-भड़क और उनका आनंद ग़रीबों के लिये नहीं, अमीरों के लिए है। अगर कोई ग़रीब मेरी बात पर विश्वास करनेवाला मिले तो मैं कहूँगा, भइया! जेलख़ाने की तैयारी करो तो अच्छा है; पर शहर का नाम न लो। वहाँ की ऊँची-ऊँची इमारतें दैत्यों से कम नहीं होतीं। वे ग़रीबों को जीवित ही खा लेती हैं। अमीरों की क्षमता के आगे उनका सिर नत हो जाता है। वे ही मुकुट के रत्नों की तरह उनके उन्नत ललाटों पर शोभा पाते हैं।

अब समझता हूँ—घर की दारुण व्यथा में भी शहर के आनंद से ज्यादा सुख रहता है। हाय, प्यारी जयंती! उस समय क्या मैं यह सब समझा था?

मैं पूरे तीन बरस कानपुर रहा—केवल रोटियों और झिड़कियां पर। जयंती या अपने लिए कुछ धन तो इकट्ठा न कर सका, पर अनुभव बहुत-सा बटोर लिया।

इस बीच में एक बार भी मैं घर नहीं पहुँच सका। बड़ी इच्छा थी। मन-ही-मन घुला जाता था। वयस्क हो चला था। प्यारी जयंती की विदा-समय की करुण-कोमल मूर्ति आँसुओं से धुल-धुलकर उज्ज्वलतर होती जा रही थी। दिन में काम के भार से भार-ग्रस्त रहता और रात्रि को स्मृतियों के अविरल पतझड़ से आवृत होकर चुपचाप अपने अस्तित्व को विलीन कर देता था। कानपुर और शाहजहाँपुर में अंतर ही कितना है? पर मेरे लिए बहुत था। घर पहुँचने का कोई साधन मुझे प्राप्त नहीं था। अपनी किसी चीज़ पर मेरा अधिकार नहीं था। मेरी तनख्वाह, जो हाल ही में खुली बतायी जाती थी, मेरे ससुर के भाई के नाम जमा होती थी। सच पूछो तो मुझे खुद भी अपने अधिकारों का पता नहीं था। जयंती के

पिता ने मुझे ख़रीद लिया था, न कि उनके भाई ने; इतनी मोटी बात भी उस समय मेरी बुद्धि में नहीं आयी थी ।

घर जाने की बड़ी उत्कंठा थी, बड़ी लालसा । मैंने कई बार पत्र लिखे। बार-बार चाचा को जताया कि मैं अब काफ़ी रुपया पैदा कर चुका हूँ। मैं थक गया हूँ। मैं मर रहा हूँ। अब यहाँ रहने की बिलकुल इच्छा नहीं है। आप मुझे तुरंत बुला लीजिए ।

चाचा साहब ने बहुत देर बाद जागकर उत्तर दिया—घबराओ नहीं, काम किये जाओ। घर पर आकर क्या करोगे ? काम नहीं करोगे, तो खाओगे क्या ? यहाँ क्या रक्खा है ?

मैंने और भी एक पत्र लिखा—आप मेरे खाने की चिन्ता मत कीजिए। सिर्फ़ मुझे बुला लीजिए। मैं यहाँ एक क्षण भी अब नहीं रह सकता । आप न बुलावेंगे तो मैं स्वयं चला आऊँगा ।

तुरंत उत्तर आया—अच्छा, मैं आ रहा हूँ। वहीं आकर ठीक करूँगा ।

मेरे प्राण निकल गये। जानता था क्या होगा ? वही हुआ। चाचा उसी शाम को आ धमके। शायद चिट्ठी

के साथ-ही-साथ चले थे। आकर ही मुझे बुरी तीखी आवाज़ से व्यथित करते हुए कहा—क्या तुमको शर्म नहीं लगती है ? यदि आराम ही भाग्य में लिखी होती, तो एक भिखमंगे के यहाँ जन्म लेते ? अब तुम ऐसे नाज़ुक-मिज़ाज हो गये हो ?

मैं क्या कहता ? चुप रह गया। आँखों के आँसू भी भयभीत हो गये। सारा शरीर सूखो पत्ती की तरह काँपने लगा।

रात हुई। मैं. जाकर अपने बिस्तरे पर लेट गया। बड़ी देर का बँधा हुआ प्रवाह एकांत पाकर बड़े वेग से बह निकला। मैं सोच रहा था—हाय ! मैं ग़रीबी भी अपनी इच्छा से वरण नहीं कर सकता ? मैं कब चाचा से कुछ चाहता हूँ। वे लें, सब ले लें, पर मुझे और मेरी प्यारी जयन्ती को तो संसार में मुक्त होकर रहने दें। इसमें उनका क्या आता-जाता है ?

चाचा दूर पर पड़े हुए शायद मेरे मन को समझने का यत्न कर रहे थे। बड़े कोमल और आकर्षित करने-वाले कंठ से बोले—महेश, बेटा! तुम्हें मेरी बातें कड़ुई तो लगी ही होंगी। दवा कड़ुई ही होती है।

कितने दिनों बाद चाचा मिले थे। इससे पहले तो शायद कभी कोई आया नहीं था। बरसों से घर के बाहर पड़े हुये मुझ वियोगी का मन एकाएक पुलकित हो उठा। कुछ घंटे पहले चाचा का मेरे प्रति क्या व्यवहार था, यह मैं उस समय याद न रख सका। अभी एक बार नैराश्य और दुःख से रो चुका था, अब हर्ष और आनंदातिरेक से रो पड़ा। हिचकियाँ बँध गयीं, साँस फूलने लगी।

कड़ुई दवा के बाद मिश्री की डली-सी देते हुए चाचा ने कहा—मैं तो तुम्हारे भले की कहता हूँ। कुछ दिन यहाँ और रह लोगे, तो आदमी हो जाओगे। अगर जानवरों की तरह ही जीवन बिताया चाहते हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

मैंने अनेक आशाओं से आशान्वित होकर प्रार्थना के-से स्वर में कहा—अच्छा तो मैं लौट आऊँगा; पर एक बार आप मुझे घर लेते चलें। घर जाने की मेरी बड़ी इच्छा है।

सोचा था, इस छोटी-सी प्रार्थना को चाचा स्वीकार कर लेंगे; पर उन्होंने नहीं किया। कर लेते तो क्या बुराई हो जाती, यह आज तक मेरी समझ में नहीं आया।

उन्होंने बहुत बेढंगे तरीक़े से कहा—अच्छा, इस बार तो मैं सीधा घर नहीं जा रहा हूँ। अब की बार मैं आऊँगा, तो अवश्य ही तुम्हें ले चलूँगा। मैं जल्दी ही आऊँगा। तब तक तुम और रहो।

मैं चुप रह गया। तीन बरस के बाद तो बहुत लिखने पर उनके दर्शन हुए थे; अतः दूसरी बार अपने-आप कितनी जल्दी आ जायँगे, मैं इसी बात का अनुमान करने लगा।

सुबह हुई। चाचा बाज़ार से बहुत-सी साड़ियाँ, धोतियाँ और गहने आदि ख़रीद कर ले चले। मुझसे कहा—देखो, इस दफ़े ठीक से रहना; फिर गड़बड़ी मत करना।

मेरी आँखें रंग-बिरंगी साड़ियों के पुलन्दे पर पड़ रही थीं। चाचा ने न-जाने क्या समझकर कहा—यह सब जयन्ती के लिए ले जा रहा हूँ। उसने बहुत कह दिया था।

मेरी आँखें आँसुओं से आप्लावित हो आयीं। चाचा चले गये। मैं मन मसोसकर चला आया। जयंती—केवल जयंती की याद मेरे साथ-साथ लौट आयी।

आँसुओं से पलकों को आर्द्र करके मैं चिंतित होने पर चाचा की ले जायी हुई साड़ियों में से कभी लाल, कभी आसमानी और कभी बसंती साड़ी में अपनी प्यारी जयंती को अपने सामने प्रत्यक्ष करके देख लेता था। मेरी कल्पना-शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। साड़ी का उड़ता हुआ अंचल, मेरी बालिका-प्रिया का तीव्र भृकुटि-विलास और उसका मधुर स्मित हास्य मेरी आँखों के सामने नाचते रहते थे। न-जाने क्यों, मैं उन दिनों जागृति और स्वप्न दोनों में सिर्फ़ अपने घर के ही दृश्य देखा करता था।

(४)

कितना समय बीत गया, चाचा नहीं आये। जयंती के मृत्यु-संवाद को लेकर उनकी एक चिट्ठी एक दिन आ पहुँची। मैं आकाश की ऊँचाई से पाताल की गहराई में औंधे मुँह गिर पड़ा। मेरा जी किसी अदृष्ट के निष्ठुर हाथों ने अच्छी तरह मथ डाला।

आज मैंने समझा, शायद इसीलिए चाचा मुझे नहीं ले गये थे। अब बुला रहे हैं; पर अब मैं जाकर करूँगा क्या? शायद उनसे रोया भी न जाता होगा। मुझे रोने के लिए बुला रहे हैं। मेरे आँसुओं से अपनी छाती को

शीतल करना चाहते हैं ? मैं क्यों जाऊँ ? अगर रोना ही है, तो एकांत में रोऊँगा । ऐसी जगह रोऊँगा, जहाँ से मेरी सिसक का पता उन्हें न लगे । मेरी स्त्री से मुझे एकबार मिलने तक न दिया। अब उसकी याद में गिरते हुए आँसू देखने के लिए मुझे बुलाते हैं । न—न, मैं कभी न जाऊँगा ।

तीन दिन मैंने कुछ खाया नहीं, पिया नहीं । एक करवट लगातार रोता हुआ पड़ा रहा । सारी आशायें मर गयी थीं; जीवन के तमाम आकर्षण दफ़न हो गये थे । उसी समय मैंने सुना—कोई बाहर मेरी तलाश कर रहा है । जी में सोचा—कह दूँ, अब परलोक में ही भेंट होगी । फिर मन नहीं माना, नीचे उतर गया । सड़क पर एक भलेमानस हाथ में पहाड़ो लकड़ी लिए चिंताग्रस्त-से घूम रहे थे । सड़क पर कोई नहीं था । मुझे देखकर पूछा—बेटे, यहाँ कोई महेशाचन्द्र रहता है ?

ओफ़ ! न-जाने कितने बरस बाद अपना पूरा नाम सुन पड़ा ! मैं तो चकित रह गया । मेरे ससुरजी मुझे इसो नाम से पुकारते थे । उनकी आदत थी । मुझे अधिक से अधिक सम्मान देना ही उनका ध्येय था । शायद वे जानते थे कि उनके बाद मैं किस-किस चीज़ के लिए तरस

जाऊँगा। उस-उस चीज़ से वे मुझे अपने जीवन-काल में अच्छी तरह परितृप्त कर गये थे। मेरे मन की कोई साध अतृप्त नहीं छूटी थी।

मैंने बहुत बुरी तरह से झिझककर जवाब दिया—जी, मैं ही महेश हूँ। मुझे अपना पूरा नाम लेने की हिम्मत न हुई। मेरी हालत भी नहीं थी कि पूरा नाम लेकर मैं उनकी धारणा को आश्चर्यचकित करता। फिर भी वे कुछ रुके। फिर मुझसे पूछा—तुम कहाँ रहते हो? किसके लड़के हो?

मैंने सब बता दिया। पर शायद इससे कुछ विशेष उन्हें पता न लगा। उन्होंने मुझसे पूछा—तुम्हारा ब्याह हो गया है क्या?

मेरी आँखें सजल हो गयीं। कुछ जवाब देते न बन पड़ा।

उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारे ससुर का नाम क्या है?

मैंने किसी तरह बता दिया। उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारी स्त्री का नाम क्या जयंती है?

मैंने उनके चेहरे की ओर देखकर कहा—है नहीं, था। मुझसे रहा नहीं गया। मैं बेतहाशा रो पड़ा। उन्होंने

मेरा हाथ पकड़ा और कहा—क्यों, रोते क्यों हो ? आओ, मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारी स्त्री को ले आया हूँ।

मैं चिल्ला पड़ा—हैं !

उन्होंने कुछ कहा नहीं। मुझे सीधे धर्मशाला में ले गये। उतने रास्ते में मैं कितनी बार मर-मरकर जी गया, यह नहीं बतला सकता। मेरी मरी हुई पत्नी जी आयी होगी, इसका मुझे ज़रा भी विश्वास नहीं होता था। फिर भी मैं उस वृद्ध पुरुष के साथ चला जा रहा था।

धर्मशाला में पहुँचते ही, असमय में ही जरा-जीर्ण हुई एक युवती आकर मेरे दुर्बल शरीर में लिपट गयी। मैं डर गया। शरीर एक बार काँप गया। जयंती, जयंती क्या कभी वैसी थी ? सचमुच मैं तो किसी तरह उसे पहचान न सका। हाय ! मैं तो अब तक यही समझे हुए था कि मेरी जयंती वैसी ही अबोध बनी होगी। उसकी मृत्यु पर मैंने जितने भी आँसू गिराये थे, वे सब उसी भोली-भाली बालिका-पत्नी के लिए थे; लेकिन अब आँखों से जितना जल-वर्षण हुआ, वह जीवित अस्थि-पंजरावशेष अपनी तरुणी-पत्नी जयंती के लिए था। होता भी क्यों न,

जबकि उसका तरुणाई का जीवन उस कल्पित मृत्यु से कहीं भयावह और दुःखद-करुण था !

हाय ! अब तक मुझे मालूम न था कि मैं स्वयं भी बहुत कुछ बदल गया हूँ। अपनी जयंती के आँसुओं के दर्पण में जब मुझे अपनी दशा का ज्ञान हुआ, तो मैं क्षण-भर स्तब्ध रह गया। मुझे उस दशा में भी जयंती ने पहचानने में भूल नहीं की, यह बात उसके अनुकूल ही थी।

(५)

मुझे मालूम नहीं कि मेरे ससुर के सहोदर को निस्संतान होते हुए भी दौलत की तृष्णा इतनी प्रबल क्यों थी। मेरा दुर्भाग्य इसका कारण हो सकता है; पर बेचारी भोली-भाली असहाय अबला ने क्या किया था ? उसे विजन-बन में छोड़ आने की क्या आवश्यकता थी ? यदि घर में खाने को कमी थी, तो उसकी ख़बर लेनेवाले एक आदमी को वे जानते ही थे। मुझे ख़बर देते। हा स्वार्थान्धता ! तू जीवित व्यक्ति का झूठा मृत्यु-संवाद तो दे सकी; पर उसकी रक्षा का एक शब्द भी तुझसे न लिखा गया।

मैं और जयंती उस अपरिचित महापुरुष के प्रति कृतज्ञता का भाव भी प्रदर्शित न कर सके, पर हमारा रोम-रोम उनकी कृपा के भार से झुक रहा था। उन्होंने मुझसे और जयंती से कहा—तुम मुक़द्दमा चलाओ, मैं तुम लोगों को ख़र्च दूँगा। मैं भी उनकी बातों से अंशतः सहमत था। मुक़द्दमा चलाकर नहीं, लेकिन स्वयं समाज के सामने जयंती के सहित उपस्थित होकर चाचा के घृणित अत्याचार को प्रकाशित करके। लेकिन क्षमा की देवी जयंती ने कहा—नहीं, जो संपत्ति इतने अनर्थों की जड़ है, उसकी मुझे ज़रा भी इच्छा नहीं। वह मोहिनी माया चाचा के लिए ही छोड़ दो। मैं अब उस घर की तरफ़ क़दम न दूँगी। ग़रीबी वह निर्गंध फूल है, जिसकी तरफ़ किसी की लोलुप दृष्टि नहीं पड़ती। मैं उसी में परिणत हो जाना चाहती हूँ।

मैंने जयंती को हृदय से लगाकर अपनी जीवन-नौका अपार संसार-सागर में छोड़ दी। कोई आश्रय नहीं, कोई साहाय्य नहीं; बस, एकदम निरीह और निरवलंब!

(६)

भाग्य कहें या दुर्भाग्य? हृदय तो उसे भाग्य ही

समझ बैठा था । गयी हुई चीज़ मिली थी, खोया हुआ ख़ज़ाना हाथ लगा था । मैंने बड़ी अधरीता से जयंती को और जयंती ने बड़ी उत्सुकता से मुझे अपने पास खींच लिया था । हम दोनों ने एक दूसरे को पाकर फिर किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं समझी थी। इसी से जयंती के उद्धारक महोदय को बार-बार धन्य-वाद देकर मैंने विदा कर दिया । उनके बार-बार अनुरोध करने पर भी मैंने उनसे और सहायता न ली थी । हम दोनों तो वैसे ही उनके अपार ऋण से भार-ग्रस्त हो रहे थे ।

उनकी ट्रेन छूट जाने के बाद शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि मैंने ठीक नहीं किया । कानपुर-जैसे शहर में धन-बल-हीन स्त्री-पुरुषों का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रहता। हम दोनों को उसी समय एक आश्रय को हाथों से टेलकर दूसरे की तलाश में चलना पड़ा—पैदल ही; क्योंकि टिकट के लिए पैसे न थे ।

गंगा के किनारे एक गाँव में हम दोनों ने आश्रय लिया । धीरे-धीरे मेरा कुछ ऐसा अनुमान हो गया है कि अभी पृथ्वी पर परोपकार और स्वार्थ का समान रूप

से द्वन्द्व चल रहा है । कहीं एक की जय होती है तो दूसरे की पराजय। अपने घर से निर्वासित होकर हमें दूसरे के यहाँ आश्रय मिला। गाँव के ज़मींदार ने हमें रहने को झोंपड़ी बता दी । टूटी-फूटी उस झोंपड़ी को हम दोनों ने बड़े परिश्रम से ठीक किया। उसकी फूस की टट्टियों पर कोंहड़े और लौकी की बेलें चढ़ायीं। चाचा की जान में शायद एक मृत और एक मृत के लिए पागल था। पर हम दोनों इस नवीन संसार में नवीन गृहस्थी की आयोजन कर रहे थे। कुछ सुख मिला, पर पंद्रह दिन से अधिक नहीं। जयंती बीमार पड़ गयी। उसका शरीर ख़राब रहने लगा। दिन-भर अलसायी-सी, उदास-सी वह न-जाने क्यों पड़ी रहने लगी । मजदूरी करके चार पैसे लाना भी कठिन हो गया। एक दिन जाता तो दूसरे दिन नहीं। दरिद्रता के ऊपर विधाता का यह कोप वज्र-प्रहार के सदृश हुआ। बड़ी साध से जुटायी हुई गृहस्थी के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये।

जयंती की दशा देखकर जी नहीं होता था कि उसे कुछ काम करने दिया जाय, पर वह न मानती थी। मैं पानी भर लाता तो दुख मानती, अनाज की जगह पिसा

हुआ आटा ले आता तो झिड़कती, चूल्हा फूँकने बैठ जाता तो फीकी मुसकुराहट से मना करने की चेष्टा करती !—अब सोचता हूँ, भारतीय गृहस्थ का दुख भी कितना सुखमय होता है !

धीरे-धीरे विवशता बढ़ गयी। कमजोरी के कारण उसे सब कुछ छोड़ देना पड़ा। अब तो वह पृथ्वी पर पड़े-पड़े, या कभी फूसकी टट्टी के सहारे बैठकर, मेरे क्रिया-कलाप पर अपनी प्रेम-पूर्ण दृष्टि का अंचल बिछाये रहती थी।

गंगा की बाढ़ ने गाँव की सारी विभूति स्वाहा कर दी थी। गाँव भूखों के आर्त्त-नाद से व्यथित था। किसी को हमारी फ़िक्र न थी। घर से बाहर जाने पर कहीं दो पैसे की आशा न थी। अतिसार, संग्रहणी आदि उस रोग-परिवार में से हैं, जिसमें मट्ठा, दूध और खिचड़ी का पथ्य दिया जाता है, शाक और कोंहड़े-जैसा शाक, विशेष तौर से वर्जित है। पर मैं क्या करता ? अपनी जयंती के लिए मैं किसी दूसरे पथ्य की व्यवस्था ही न कर सका। उस समय रोग और उनका विधान भी कुछ मालूम न था। अज्ञानता में बड़ी निश्चिंतता होती है। उस

समय मैं कोंहड़े का शाक खिला-खिलाकर ही उसे अच्छा करने की आशा कर बैठता था। वह भी बड़े स्वाद से, बड़े चाव से, अमृत की तरह उसकी प्रतीक्षा करती थी।

ऐसी परिचर्या का जो नतीजा हो सकता है, वही हुआ। मैं अज्ञान था सही, पर प्रकृति तो सतर्क थी! सिर्फ़ मुझे शोक रह गया है, तो यही कि उसे अंत में एक नहीं, पूरे दो दिन, वह कोंहड़ा भी न मिल सका। मैं दो-चार पैसे की मज़दूरी को मारा-मारा फिरा, वह भी न मिली। उसके बाद उसी कोंहड़े की बेलि में फल भी निकले और मैं रोज़ी से भी लग गया हूँ। मेरी जयंती के मन में यही एक कसक चली गयी कि मैं किसी काम के योग्य नहीं हो सका।

(७)

यह बात नहीं कि अब मुझमें कुछ योग्यता आ गयी हो। मैं तो वैसा ही लट्ठ गँवार हूँ। ईश्वर का परिहास है। जब ज़रूरत नहीं थी, तब एक-एक बूँद के लिए तरसा डाला; अब जब दरकार नहीं, तब सागर सामने उँडेल दिया।

जयंती को गंगा मैया की गोद में समर्पित करके

सोचा था कि मेरे सांसारिक सुखों का भी विसर्जन हो गया। उसी धुन में ग़रीबी की विलास-कक्षा उस कुटिया की परिक्रमा करके मैं उद्देश्यहीन पथ की ओर चल पड़ा था। किसी बात की इच्छा न थी, कोई अभिलाषा न थी।

कछारों की निर्जन भूमि से होकर मैं चुपचाप चला जा रहा था। रास्ते में एक मार्ग-भ्रष्ट देशी साहब से भेंट हो गयी। उन्हें सीधा मार्ग बताने के लिए उनके साथ हो लिया। मेरे उदास चेहरे की स्पष्ट लिपि को बाँचकर उन साहब ने कई प्रश्न कर डाले। उत्तर न दे सका। कंठ अवरुद्ध हो गया। आँखों से कुछ आँसू छल-छलाकर गिर पड़े।

पथिक महोदय ने सांत्वना न देकर मेरे हृदय के अवरुद्ध प्रवाह को बिलकुल निर्द्वन्द्व भाव से बह जाने को बाध्य किया। ख़ूब रो चुकने के बाद जी कुछ शांत हुआ। मैंने रुककर कहा—यही सीधा रास्ता है।

मैंने लौटना चाहा; पर उन्होंने कहा—नहीं, अब इस समय कहाँ जायँगे? चलिए एक दिन मेरे यहाँ विश्राम कीजिए।

बहुत हाथ-पैर फटफटाये; पर उनका अनुरोध कम न हुआ। लाचार मैं साथ हो लिया।

वे डाकखानों के सुपरिन्टेंडेंट थे। एक बगीचे में उनके डेरे पड़े थे। उन्होंने मुझे बड़े आदर से ठहराया, उन्होंने फिर मेरे जीवन के मुक्त प्रवाह को इस नौकरी-रूपी बाँध से रोक दिया। शीघ्र ही मैं इस अपनी जगह पर आ पहुँचा। रहने को छोटा-सा कार्टर है, काम करने को एक टेबिल-कुर्सी-युक्त दफ़्तर है। बाहर नीम की सघन शीतल छाँह है। दाहिनी तरफ़ छोटी-सी बस्ती है और बाँयीं तरफ़ क्षितिज तक फैले हुए हरित-श्यामल खेत।

इन सब ने मेरे व्यथित मन को रमा रक्खा है। सबसे अधिक मेरी ममता को उत्तेजित किया है मेरे मातहत डाकिया कल्लू की काली-कलूटी नव-वर्षीया पोष्य-पुत्री सुखिया ने। वह मुझे खाना बनाने और चूल्हा जलाने आदि में सहायता देती है और बदले में उसके साथ तरह-तरह के खेल खेलकर उसके सम-वयस्क साथियों का अभाव दूर कर देता हूँ। दिन बड़े मज़े से उड़े जा रहे हैं। आज सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब आये थे और मुझसे पूछा था—कहो, जी लगता है ?

मेरी समझ ही में नहीं आया था कि क्या कहूँ। चंचल सुखिया ने मेरी तरफ़ से कह दिया—ख़ूब लगता है!

सुपरिन्टेन्डेंट मुस्करा दिये और मैं भी। अभी तक डाकख़ाना इम्तहानन् (Experimental) था और मैं भी; पर आज से दोनों स्थायी हुए।

—

मृत्यु-शय्या

धे ! तुम्हें मालूम नहीं, मैं सदा से ही असहाय हूँ। आशैशव दुखित निरादृत की एकमात्र अवलंब ! क्या उसे तड़पते हुये अकेले छोड़ जाना तुम्हें उचित है ? खोल दो तनिक अपनी आँखें। देखो, यह अंधकार सारे घर में फैलने न पावे—कहकर चरन ने रोगिनी स्त्री की चारपाई पर सिर टेक लिया।

राधा ने बड़े कष्ट से आँखें खोलकर और कराहकर कहा—मैं अच्छी हूँ। क्यों जी छोटा करते हो? तनिक कला को गोदी में लेकर चुमकारो तो। बेचारी कैसी हो हो गई है! तनिक मेरी बच्ची को ले लो।

चरन—हाँ, इसी तरह हुकुम देती रहो मेरी स्वामिनी! देखो, मैं बच्ची को लिये लेता हूँ। आओ—आओ, मेरी बेटी कला! डरो नहीं; तुम्हारी अम्मी अभी अच्छी हुई जाती हैं।

राधा—हाँ, ठीक है।

चरन कला के मुख को बार-बार चूमने के बाद रोगिनी की ओर देखकर—ठीक तो है, पर यह क्या? पलकें क्यों झाँपती हो? देखो न, मैंने कला को गोदी में ले लिया है। तुम भी थोड़ा उसके सिर पर हाथ फेर दो। कह दो, वह डरे नहीं। अब लो, तुम तो बोलती ही नहीं। इससे तो मैं तक डरने लगता हूँ, फिर यह तो अबोध बालिका है।

राधा—मैं कहती जो हूँ, चिन्ता छोड़ दो। कौन सदा बना रहता है? मेरी जैसी सौभाग्य-मृत्यु तो बहुतों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। तुम तो समझदार हो। अधीर

क्यों होते हो ? ईश्वर की इच्छा होगी तो अपने केशव और कला को लेकर रहना; लेकिन अभी कौन जानता है क्या होगा ?

चरन—राधे ! तुम मुझे धोखा न दो । मैं यह एक भी बातें नहीं सुन सकता । मालूम नहीं, अब इस हृदय में थोड़ा भी आघात सहने की शक्ति नहीं रह गई है । मेरे इस जीवन में कितने असहनीय कष्ट नहीं आये और मैं सबको सह सका हूँ; किन्तु आज का यह दुख असहनीय हो रहा है । प्रियतमे ! यह बड़ा-सा मकान, यह रौनक़, यह ठाट-बाट मेरा नहीं है । यह सब तो मेरी लक्ष्मी ! तुम्हारे भाग्य का है । इसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ; और इसी से चाहे थोड़ा-बहुत इन बच्चों के हिस्से में भी पड़ जाय । नहीं तो मैं एक अभागा प्राणी हूँ ।

राधा ने अपनी दोनों क्षीण बाहें चरन के गले में डाल दीं और रोकर कहा—यह क्या कहते हो ? अपने सौभाग्य को इस सुनहली युगल-जोड़ी को देखो । परमात्मा से प्रार्थना है वह इन्हें चिरञ्जीवी करे और अब मेरे लिए चिन्ता करना छोड़ दो ।

अँधेरी रात थी और सरदी का भयानक मौसम ।

हाथ-पैर बर्फ हो रहे थे। चरन की गोद में कला मुरझाई पड़ी थी। पास ही एक दूसरे बिस्तर पर अबोध बालक केशव सो रहा था। मोमबत्ती जलकर समाप्त-प्राय हो चुकी थी। चरन की आँखों से गरम-गरम आँसू की बूँदें बराबर झरझर कर गोद में पड़ी बच्ची के कपड़ों को भिगो रही थीं। रोगिनी की निर्बल बाहें स्वामी के गले में पड़ी थीं।

यकायक ममत्व का बंधन टूट पड़ा। मोह की बेड़ी शिथिल निर्जीव होकर खुल गई। दीपक का निर्वाण हो गया। मोमबत्ती जलकर बुझ गई। चरन ने व्याकुल कंठ से पुकारा—मेरी रानी! मेरी स्वामिनी!—प्रिये! राधे! तुम क्यों रूठ रही हो? एक बार, केवल एक बार अपनी बाहें इस गले में और डाल दो। ओफ़! यह अँधेरा कैसा विकट है! महाप्रलय की रात मालूम पड़ती है। दीपक, चिराग—उजाला, प्रकाश! कहाँ हो प्राणेश्वरि! एक किरण—केवल एक झलक!

(२)

चरन का नाम जिस ज्योतिषी ने विचारा था उसकी आँखों की दृष्टि चाहे जैसी रही हो, पर उसकी विद्या-

बुद्धि में कसर न थी। उसने केवल नाम के तीन साधारण अक्षरों में जैसे उसके जीवन का सारा भविष्य अंकित कर दिया था। चरन सचमुच बचपन से चरणों की तरह दुखी, उपेक्षित और अनादृत रहा।

कहने को वकील का लड़का था। घर में खाने की कमी न थी; पर विशेष सुविधा भी न थी। माँ जो प्यार करती और कर सकती थी वह घर की स्वामिनी होकर भी दासी—नहीं भिखारिणी थी। भाग्यहीन चरन उसी अभागी माँ के उदर से जन्मा था।

माँ का नाम ही सिर्फ बसन्ती था, वैसे न उसमें बसन्त का सा मादक रूप था न वैसी बहार। जैसी रूप-हीन वह थी, वैसा ही था उसका भाग्य। स्वामी ने कभी उसे प्यार नहीं किया था। वह रूप-वञ्चिता, रस-वञ्चिता, प्यार और स्नेह-वञ्चिता अबला थी; दुखी, निरादृत और निरवलम्ब! लेकिन उसकी विरूप आकृति औह भद्दे वेश-विन्यास में छिपा हुआ था अनन्य-प्रेम का महासागर, जिसे कभी किसी ने पूछा न था—जिसका कोई ग्राहक न था।

गँवार और कुरूप स्त्री सुशिक्षित पुरुष की गृहिणी

बने इससे अधिक अपराध और क्या हो सकता है ? शासन-विधान में इसके लिए चाहे कोई धारा न हो पर नये निकले हुये वकील की प्रतिभा कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेती है। चरन के पिता ने अपनी वकालत की कारगुज़ारी पहले पहल अपने घर से ही आरम्भ की। मनोविज्ञान पढ़ा था। उसकी सहायता से कार्य आरम्भ किया। दिन में चार चार बार स्त्री की पेशी होने लगी। कभी दाल में नमक की शिकायत, कभी पान में चूने की बेशी, कभी बिस्तर पर सिलवटों की भर्त्सना। आरोप बढ़ते ही जाते थे। पर जब फ़ैसले का मौका आता तो हाथ रुक जाता। हिन्दू-ला के विधाताओं की बुद्धि की बलिहारी ! उन्होंने तिलाक का कहीं ज़िक्र ही न किया !—न सही, पर इससे क्या घर के काम-काज रुक जाते हैं ?

वकील साहब को बनाने में विधाता ने जैसी बुद्धिमत्ता से काम लिया था, वैसे ही उसने बसंती को ज़रूरत से अधिक सरलता और कुरूपता देकर अपनी दुर्बुद्धि का भी डंका पीट दिया था। अनेक तरह के कष्ट और नई नई असुविधायें पाकर भी उसकी तंद्रा भंग न होती। अपने करुण जीवन का उसे भान ही न था।

उसमें न अभिमान था, न गर्व। स्वामी कहते खड़ी हो, खड़ी हो जाती; वे हुक्म देते बैठ जा, तो बैठ जाती।

उसके इस भाव से वकील साहब मनही मन जल-भुन कर कहते—बड़ी मूर्खा है।

वह भी चुपचाप सिर झुकाकर स्वीकार कर लेती। उसने कभी एक क्षण के लिए भी स्वामी के कथन पर अविश्वास न किया था। वह सचमुच अपने आपको वैसा ही समझती थी, जैसा वकील साहब क्रोध में आकर कह डालते।

उसका कोई काम स्वामी को पसंद न आता, पर घर के प्रायः सभी काम करने उसी को पड़ते थे और हरएक काम के साथ सुननी पड़ती थी एक लम्बी फटकार! ऐसी स्त्री के स्वामी बनकर वकील साहब भी परेशान थे। उनका महत्वपूर्ण जीवन व्यर्थ की बक-झक और दुश्चिन्ता में जाता था। वैवाहिक जीवन की जैसी मनोहर कल्पनायें कर रक्खी थीं उन सब पर गँवार-कुरूप और मूर्खा बसंती ने पानी फेर दिया। कचहरी से जब लौटकर आते, तो कभी वह द्वार के पास उत्सुकता से प्रतीक्षा नहीं करती होती। कभी-कभी रूप-सौष्ठव की बात विधाता का

अभिशाप मानकर भूल भी जाना चाहते थे, पर बसंती की फूहड़ कार्य-प्रणाली पद-पद पर उसका स्मरण दिला देती थी। जब वे चाहते कि वह बाजार से साड़ी और आभूषण ला देने के लिए झगड़े तो उस समय बसन्ती बड़ी व्यस्तता से चूल्हा फूँकने में लगी होती। जब वे चाहते कि वह उनकी पुस्तकों में से किसी सरस उपन्यास को लेकर पढ़ने बैठ जाय और उसके विषय की आलोचना करने के लिये उन्हें कचहरी जाते समय थोड़ी देर रुकने के लिए अनुरोध करे, उस समय वह उनकी नहाई हुई धोती छाँटती होती या बाबा आदम की पुरानी रामायण की पोथी लेकर ध्यान मग्न होती। कभी प्रेम-पत्र लिखना न जानती थी। कभी हाव-भाव दर्शाना न जानती थी। न 'प्रियतम' कहकर कभी प्रेम-निवेदन करती थी। इस शुष्कता और नीरसता ने उसके रूप को और भी स्वामी की नजरों में भोंड़ा बना दिया था।

(३)

यह विषय अब तक विवाद-ग्रस्त है कि पाँच साल के बालक चरन को छोड़कर बसंती स्वयं कहीं चली गई या वकील साहब ने ही किसी तरह उससे पीछा छुड़ा

लिया। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि बेचारा चरन बिना माँ का रह गया।

बसन्ती का कहीं पता न लगा। लेकिन स्त्रियों का पता न लगने से पुरुषों के जीवन में कोई अभाव आजाता हो यह बात नहीं; तथापि वकील साहब ने मन ही मन उसे बहुत अनुभव किया। क्योंकि बसन्ती को न सही तो वे चरन को तो प्यार करते ही थे! बच्चे की ममता उन्हें उसकी याद दिलाये बिना न रहती जिसके लिये उनका जीवन सदा घृणा के भाव से भरा था।

बच्चे के लालन-पालन के लिये हो, चाहे अपने आराम के लिये, उन्होंने शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लिया। स्त्री आई सुन्दरी, पढ़ी-लिखी, अप-टू-डेट। उसने वकील साहब के कड़ुए जीवन में अपूर्व मिठास पैदा कर दी; पर बेचारे चरन की दशा में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। वह उसी तरह पिता के निष्फल प्यार और माता के गम्भीर भाव में अपने बचपन के दिन व्यतीत करता रहा।

सातवीं साल में वह स्कूल में पढ़ने गया। उसके भोले चेहरे और शिष्ट संभाषण में एक जादू था, जो सब पर असर डालता था। पिता उसके ऊपर कृपालु थे। विमाता का

भाव भी कोमल हो चला था। सौभाग्य के सुनहले स्वप्न आने में देर न थी। वह मनही मन प्रफुल्लित हो रहा था। यकायक विमाता का भाव बदल गया। वह फिर चरन से खिंची रहने लगी; पर उसकी समझ में कुछ न आया।

उसकी पैतृक सम्पत्ति चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न थी; पर वह अब तक उसका अकेला उत्तराधिकारी था। अब उसका वह अधिकार भी बँट जानेवाला था। यही नहीं, धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त पिता और विमाता का प्रेम भी उसपर न रहा। न जाने कितने जन्मों की शत्रुता का बदला लेने के लिये विमाता के गर्भ से एक बालक ने भाई बनकर जन्म ले लिया। भाई का स्नेह-मधुर स्थान लेकर एक राहु उदय हुआ, जिसने अभागे चरन के समस्त सुखों का ग्रास कर लिया।

(४)

चरन स्कूल में पढ़ता था। उसकी विमाता सुन्दरी और पढ़ी-लिखी थी। वकील साहब ने इस शादी में अपनी सुरुचि का पूरा उपयोग किया था। स्त्री चुनने में उन्होंने बिल्कुल नये ढंग से काम लिया था। फोटो से गुण-दोषों की कभी-कभी परख नहीं हो पाती। इसलिये

उन्होंने लड़की स्वयं देखकर पसन्द की थी। इसीसे धर्मसमाजी होने पर भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों में श्रद्धा रखनेवाली स्त्री से उनका ग्रन्थि-बन्धन होगया; पर दोनों के लचीले स्वभाव ने इस मतान्तर की खाई को दुर्लंघ्य न होने दिया। स्त्री समाज के जलसों में वे रोक-टोक जाती थी। स्वामी अपनी सभ्यता, विश्वास, और धार्मिक विचारों के अनुसार काम करते थे। एक समय था जब बसन्ती का रामायण पढ़ना उन्हें अखर जाता था, पर उसके अदृश्य होजाने के बाद से उन्हें रामायण की ओर से विशेष रुचि होगई थी। न जाने क्यों, पर फिर भी स्त्री पुरुषों में पूरी-पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता थी। नवयुग की नई रोशनी में गृहस्थी का कायाकल्प होगया था।

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के भी अवस्था भेद से रूप बदला करते हैं। जबतक किसी आर्थिक चिन्ता का सामना नहीं पड़ा, तबतक मज़े में चलता गया, पर जब श्रीमती के लिये ताँगे के पैसे एक व्यर्थ का बोझ प्रतीत होने लगे तो धार्मिक मतान्तर का कुत्सित रूप कुछ-कुछ स्पष्ट होचला।

किसी सम्प्रदाय की हों, स्त्रियों में धार्मिक विश्वास

का आधिक्य होता ही है। वे जिस बात को मानती हैं अन्तःकरण से मानती हैं। वकील साहब के इशारा करने पर भी श्रीमती ने समाज में जाना नहीं छोड़ा; बल्कि और नियमित होगईं, पति-पत्नी को इस पारस्परिक खींचातानी में आर्थिक समस्या और उलझ गई। विश्व के आदिकाल से जो होता आया है अन्त में वही हुआ। रमणी का हठ रहा, पुरुष को घुटने टेक देने पड़े। पूर्ववत किराये का ताँगा आता और श्रीमती को समाज-मन्दिर की ओर लेजाता रहा। हाँ, थोड़ा-सा अन्तर यह अवश्य हुआ कि बारह रुपया महीने का एक नौकर छुड़ा दिया गया, और चरन, जो स्कूल में जाकर अपना समय और पिता का आठ दस मासिक बरबाद करता था, उसकी जगह घर का काम-काज देखने लगा।

वकील साहब ने कुछ विरोध नहीं किया, इसलिये यह नहीं कह सकते कि उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया। चरन चरणों के स्थान पर आगया और चरणों के स्थान पर आसीन होने से ही अभ्युदय का आरम्भ होता है।

जहाँ चरन के भाग्य को इतना खोटा बनाया था, वहीं विधाता ने बचपन से ही उसे कुशाग्र बुद्धि देकर बड़ी

समझदारी का काम किया था। पढ़ना-लिखना छोड़कर घर की टहल करते-करते ही वह अक्सर अपने जीवन की आलोचना कर लेता था। वह मनही मन जानता था कि विमाता के जिस बच्चे को वह गोद में लेकर चुमकारता और गाड़ी पर चढ़ाकर टहलाता है वह यदि बड़ा होने पर इतना कृतघ्न न हुआ कि उसे घर से निकाल दे तो भी बड़े भाई का पद तो कदापि न दे सकेगा। अपने पिता के घर में हर समय, हर बात में, परायापन समझ-समझ कर उसके जीवन का रस-स्रोत सूखा जाता था।

लड़कों में बचपन की जो उमंगें होती हैं, जिस चपलता और वाचालता से उनका जीवन सुहावना बना रहता है, वे उसमें कहाँ से आतीं? उसने न कभी लाड़ जाना था, न दुलार। एक बार भी कभी किसी बात के लिए रूठकर उसने माँ-बाप को घुटनों के बल न झुका पाया था। कभी इठलाकर चलने की क्षमता उसमें न आई थी। पर वही दुर्बल-कोमल चरन पुरुषार्थ का पुतला बन गया। ज्योंही उसने सुना कि उसकी माँ हरिद्वार में है, वहीं गंगा-तट पर वह फूल बेंचती है, त्योंही वह पिता के घर से बाहर होगया। हरिद्वार कहाँ? किधर?

कितने मील है ? यह सोचने का कष्ट उसने नहीं उठाया।

जिसके पास खाने को एक पैसा नहीं, ओढ़ने-पहनने को कपड़े नहीं, वह छोटा-सा बालक इतने मील का सफ़र करने के बाद, कितने कष्ट झेलकर हरिद्वार पहुँचा होगा इसकी यथावत् कल्पना सब कोई नहीं कर सकता। केवल माँ का प्यार उसे वहाँ खींच ले गया। तकलीफ़ों को उसने मार्ग के फूल समझा।

उसने हरिद्वार की गली-गली छान डाली। जितनी मालिनें गंगा-तट पर फूल बेंचती थीं उन सभी को अपनी करुण कहानी से एक-एकबार उसने रुला दिया पर माँ का कहीं पता न चला।

माँ को न पाकर वह निराश था। अब चारों दिशायें उसके लिए समान थीं। हरिद्वार की जनाकीर्ण गलियाँ उसे सूनी प्रतीत होती थीं। एक दिन वह गाड़ी में सवार हो लिया। गाड़ी कहाँ, किधर जायगी इस दुश्चिन्ता में व्यथित होना उसने उचित नहीं समझा।

मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। भूख-प्यास से मुँह सूख रहा था। गाड़ी बायुवेग से जारही थी। उसी चलती

गाड़ी में एक टोप-धारी बाबू चढ़ आया। सब लोग उसे अपना-अपना टिकट दिखाने लगे। चरन का सिर चक्कर खाने लगा। जब बाबू ने उसकी ओर फिरकर टिकट माँगा तो-तो उसके मुँह के अन्दर जीभ अटक गई और वह सिसक-सिसक कर रोने लगा।

एक महाशय बड़ी देर से चरन की दशा पर मनही मन तरस खारहे थे। उन्होंने बच्चे को विपत्ति में पड़ा हुआ देखकर कहा—यह लड़का मेरे साथ है। इसके टिकट के दाम मुझसे लीजिये।

जेब से मनीबेग निकाल कर रुपये गिन दिये और रसीद लेली। चरन मनही मन बहुत लज्जित और संकुचित होकर आँसू पोंछने लगा। थोड़ी देर में उन महाशय ने कहा—लो बच्चे! यह रसीद। बनारस तक का टिकट है। तुम कहाँ उतरोगे?

चरन ने काँपते हुए हाथों से रसीद ले ली पर उनकी बात का कुछ उत्तर न देसका। उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारा घर कहाँ है?

उत्तर में चरन ने रो दिया।

(५)

सुन्दरलाल को मालूम हुआ तो वे चरन को अपने साथ ही ले आये। एक अपरिचित घर में अनायास आकर चरन ने माँ-बाप दोनों को पा लिया। जिस अभाव की ज्वाला से उसका जीवन जल रहा था, वह न रहा। सुन्दर-लाल सचमुच उसे लड़के की तरह रखने लगे। उनकी गृहिणी माँ की तरह उसकी ख़बर लेने लगी। दोनों स्त्री-पुरुषों से भी अधिक सरस और सौंदर्यमय बनाने लगी उन दम्पति की सलोनी हँसमुख कन्या राधिका।

सुन्दरलाल बहुत मामूली हैसियत के आदमी थे। उनके पास कोई ऐसी जायदाद न थी जो वे किसी को वसी-यत कर जाते। उनका हृदय बड़ा विशाल था। उन्होंने किसी तरह चरन को पढ़ाकर एन्ट्रेन्स पास करा दिया। किन्तु उसका नतीजा भी न निकलने पाया कि वे अचा-नक स्वर्गवासी हो गये। उनके थोड़े दिन बाद ही उनकी धर्मपत्नी भी चल बसीं; किन्तु अन्त समय वे अपने स्वामी की अन्तिम अभिलाषा पूरी कर गईं। चारपाई पर लेटे-लेटे ही उन्होंने चरन और राधा की अपने सामने ही भाँवरें फिरवा दीं। वह विवाह भी अनोखा था। उसमें

बाजे नहीं बजे; उत्सव नहीं हुआ। चरन भी रोता था, राधा भी रोती थी, और सरस्वती, राधा की स्नेहमयी माँ, मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े कन्यादान कर रही थीं। भाँवरों के कुछ घंटों बाद उनकी अर्थी निकली। मालूम पड़ता है, इसी वसीयत के लिए उनके प्राण शरीर में अटक रहे थे।

(६)

जिस स्नेह और सौजन्य से, जिस आशा और अभि-लाषा से, सरस्वती और सुन्दरलाल ने अपनी स्नेहमयी दुहिता-पथ के भिखारी चरन को अर्पित की थी, जीवन भर पूरी तरह से उसका आदर और मान करने में कुछ उठा नहीं रक्खा था, उनकी उस अनूठी विभूति चरन ने भी सदा अपनी पलकों पर ही रखने में गौरव समझा।

उसने जो होमकर धनराशि इकट्ठी की। मकान बन-वाया। अपनी हृदयेश्वरी की एक-एक इच्छा को पूर्णकरने का सतत प्रयत्न किया। राधा सचमुच अपने प्रेम और लावण्य के कारण उसे उतनी प्यारी न थी, जितनी सास-ससुर की स्मृति के कारण। इसीसे आज जब वह नहीं है तो उसका संसार सूना हो गया है। कला और केशव उसके उस अभाव की पूर्त्ति नहीं कर पाते। गत जीवन की

एक-एक स्मृति उसकी आँखों से आँसुओं को झड़ी लगा रही है।

ख़ुशी में जब समय नहीं कटना चाहिए, तब वह चुपचाप खिसक जाता है। इतने धीरे से कि पता भी नहीं चलता पर दुख में एक एक पल कटते-कटते दुखिया की हज़ार बार हत्या हो जाती है। शून्य उदासी से जी घबड़ा उठता है। स्मृतियों से आँखें धुल जातो हैं। आज राधा की नहीं, चरन के समस्त सुखों को मृत्यु हो गई है, और अब शायद इस जीवन में फिर कभी प्राण-रस प्रवाहित नहीं होगा।

विरोधी

(१)
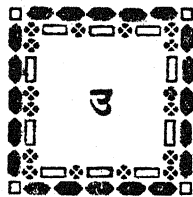
उत्तर-दक्षिण दिशाओं में जिस विरोध-भाव की सूचना है, आकाश-पताल के बीच जिस अपरिसीम अन्तर का इंगित है, ठीक उसी कटु-भाव का हम दोनों के जीवन में मिश्रण था। मैं उसके हर काम को घृणा, ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखता। वह भी मेरी बात-बात पर जली-भुनी आँखों से अग्निवर्षा कर देने में ही सन्तोष पाता।

यह क्यों हुआ, कैसे हुआ ?—आदि बातों का उत्तर पूछो, तो कुछ भी नहीं। मैंने उसे पहली बार स्कूल में देखा, लड़कों से सुना—वह पढ़ने आया है। किसी ने उसका नाम लिया—घनानन्द।

मेरे मन में, न जाने क्यों, देखते ही उसके प्रति अनन्त घृणा का समुद्र उमड़ पड़ा। मैंने अपने तमाम उपास्य देवों के द्वार खटखटा डाले। सबसे यही, केवल यही, प्रार्थना की—हे देव ! हे शत्रुदमन ! इस दस्यु को यहाँ से लोकान्तरित कर सको, तो माता वसुन्धरा का भार बहुत कुछ हल्का हो जाय।

घनानन्द के नाम का प्रत्येक अक्षर मेरे कानों में घन की तरह बजने लगा। मैं उसके सीधे नाम को सह न सका। मैंने उसमें थोड़ा परिवर्तन कर देना आवश्यक समझा। मैंने उसका नाम घृणानन्द रख लिया। घृणानन्द के प्रति मेरी घृणा और ईर्ष्या और भी प्रबल हो उठी। मुझे मालूम हुआ, कि वह स्कूल में भर्ती हो गया है। यही क्यों, वह मेरे दर्जे ही में, मेरे ही सेक्शन में लिया गया है। मैं उसे जितना ही दूर चाहता था, वह उतना ही मेरे पास आकर लिपट गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, कि साँप आस्तीन में घुस आया।

ख़ैर इतनी हुई कि मेरे पास ख़ाली सीट होने पर भी मास्टर ने उसे मुझसे दूर ही रक्खा। मैंने बूढ़े मास्टर की काँपती हुई अक़्ल को धन्यवाद दिया।

उसने इधर से उधर दृष्टि दौड़ाकर कुछ देर में कमरे की सारी मूर्तियों को परख लिया। मुझे भी देखा—साँप की तरह फुफकारते हुए। मैंने समझा, उसने मुझे पहचान लिया। बात भी सच थी।

मास्टर चले गये। खाने-पीने की छुट्टी हुई। सभी लड़कों से, जैसे उसका गठ-बन्धन हो गया। इतनी जल्दी ऐसा हेल-मेल! मेरी भी गप्पें लड़ रही थीं; लेकिन एक आँख और एक कान उसी की ओर लगे थे और शायद उसके मेरी ओर।

मैं उसे अपनी ओर फुफकारते हुए समझता रहा था, वह मुझे घुरघुराते हुए।

उस दिन यहीं तक हुआ। घृणानन्द छुट्टी के बाद घृणा और विद्वेष की आग जलाकर अपने घर चला गया। मैं अपने यहाँ चला आया और उसे सुरक्षित रखने का यत्न करने लगा।

दूसरे दिन भस्माच्छादित चिनगारी ज्वलन्तरूप में प्रकट हुई। मैं पढ़ रहा था। मास्टर ने कोई शब्द पूछ लिया। मुझे न आया। मैं चुपचाप खड़ा था। घृणानन्द ने झट हाथ ऊँचा कर दिया। मेरे शरीर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक कड़वा विष भर गया। मैंने कड़ी-से-कड़ी नज़र से उसकी ओर देखा।

शाम को खेल हुआ। उसमें भी हम दोनों का स्पष्ट विरोध-भाव देख पड़ा। बात-बात में विरोध था—कड़ा, तीव्र और अनुचित। वह मेरे हरएक प्रस्ताव को उलटाने में कसर नहीं छोड़ता। मैं भी उसकी कोई बात लगने नहीं देता।

मेरे जीवन का सारा रस विष हो गया था और शायद उसका भी।

(२)

मेरे दर्जे के दो सेक्शन थे। कुल सत्तर लड़के होंगे। मैं सबसे तेज़ था। कभी किसी ने मुझे किसी विषय में परास्त नहीं कर पाया था। मुझे और मेरे मास्टर दोनों को मेरी प्रतिभा और कुशाग्रबुद्धि का गर्व था। अभीतक वह गर्व हिमाचल की तरह दृढ़ और अचल चला आ रहा था; घृणानन्द ने आकर उसे भी हिला दिया। ऐसा

रट्टू, ऐसा मेहनती और ऐसा खिलाड़ी कोई लड़का शायद मास्टरों की याद में भी भर्ती न हुआ था। मेरी सर्वोन्मुखी प्रतिभा जब कई बार उसके सामने कुण्ठित हुई, तो मेरी आँखें खुलीं। मास्टरों की उसके ऊपर कृपा बढ़ने लगी। मेरा उसके प्रति रोष उद्वेलित होने लगा।

इतना तेज़ होने पर भी किताबों में जी न लगाने की मैंने क़सम खाई थी। ज़रूरत भी नहीं थी, .फुरसत भी नहीं थी। कुछ लापरवाही थी, कुछ बचपन था—और कुछ थे खेल-कूद, आनन्द और विनोद! ज्ञान-संचय के लिए नहीं, घृणानन्द के लिये, समस्त विश्व की घृणा उत्पादन करने की ख़ातिर मैं अपनी समस्त शक्ति से पढ़ाई में लग गया।

घर के लोगों को ताज्जुब था। भाई को मेरे न पढ़ने की सदा शिकायत थी; वे प्रसन्न हो गये। माँ को मेरी तन्दुरुस्ती की चिन्ता सताने लगी। बार-बार बाबूजी के सामने मेरी लगन की चर्चा चलाकर बात को अच्छी तरह प्रसिद्ध कर दिया; केवल नई भाभी ने मेरे इस नये कार्य-क्रम को पसन्द नहीं किया। ज़रा हँसने-बोलने का सुयोग था, वह भी गया।

मैं अपने काम में लगा रहा। भूगोल, विज्ञान और गणित इन विषयों पर विशेष सान चढ़ानी थी। शेष विषयों में अभी मैंने घृणानन्द का आधिपत्य नहीं माना था; लेकिन फिर भी मेहनत हरएक में करता रहा।

शहर में प्रसिद्ध राममूर्ति का सर्कस आया। बाबूजी ने कहा, माँ ने कहा, पर मैं नहीं गया। भाभी का भी अनुरोध नहीं माना। भाई और पड़ोस की श्यामा-कृष्णा दोनों लड़कियाँ जाकर देख आईं। उस समय मैं विज्ञान में तल्लीन था। छमाही इम्तहान को बीस दिन से भी कम समय रह गया था।

दूसरे दिन सुना घृणानन्द सर्कस देख आया है। वह दर्जे में खूब लम्बी-चौड़ी हाँक रहा था। इन दिनों से मैंने खेलों में शरीक होना भी छोड़ दिया था; लेकिन घृणानन्द शायद बराबर भाग लेता था। उसकी वैसीही दिलचस्पी थी, वही रफ्तार थी।

मैं कहता था—ठीक है; लेकिन नतीजे के वक्त मालूम पड़ा, कि अवश्य ही वह भी मेरे लिए यही कहता रहा होगा। मेरी उसकी भाषाओं में भेद था—उसकी उर्दू थी, मेरी हिन्दी। विज्ञान, भूगोल और गणित में उसके नम्बर

अधिक आये; लेकिन टोटल मेरा बढ़ गया। गौरव रह गया—ऐसा मैंने समझ लिया। हिन्दी के पंडितजी को धन्यवाद दिया।

गणित और विज्ञान बङ्गाली मास्टर पढ़ाते थे और भूगोल एक अमेरिकन। दोनों ने मुझसे पूछा—क्यों जी, तुमको क्या हो गया था ?

'मुझको तो कुछ भी नहीं हो गया था। पहले से हर एक पर्चा अच्छा ही किया था। दुष्ट घृणानन्द इससे भी अच्छा करेगा, इसका भला मुझे क्या पता था ?' यही सोचकर मैं चुप रह गया।

(३)

जीवन में मेरी टक्कर उसे छोड़कर और किसी से नहीं हुई। इसका कारण पूर्व जन्म के किसी संस्कार के सिवा और क्या हो सकता है ! जो लोग इस विश्वास के क़ायल नहीं, वे कोई दूसरा कारण भी समझ सकते हैं।

हम दोनों ने हाईस्कूल साथ-साथ पास किया। जो डिवीज़न मैंने पाया, वही उसे पाने का क्या अधिकार था ? लेकिन वही पाया। स्कूल में साथ-साथ, कॉलेज में साथ-साथ, सभा-सोसाइटी में साथ-साथ; लेकिन दोनों एक

दूसरे के कट्टर विरोधी और प्रबल शत्रु । आर्यकुमार सभा, फुटबाल, हाकी के मैदान, उत्सवों के रंगमंच और डिबेटिंग-क्लब हम दोनों के हौसले निकालने के स्थल थे । कहीं मार-तोड़कर, कहीं गालियों की बौछार कर और कहीं प्रतिभा और विद्वत्ता से एक दूसरे को परास्त कर नीचा दिखाना चाहते थे । ड्रामा में शाइलाक बनकर मैं सचमुच ही एन्टोनियो (घृणानन्द) का एक पौंड मांस काट लेने की घृणित चेष्टा से छटपटा उठता । पोर्शिया का अभिनय और तर्कपटुता उतनी हृदयहारिणी न होती, तो मैं नाटक को सत्य घटना में घटित कर देता ।

पोर्शिया पाठकों के लिए नई चीज नहीं है ।

पहले श्यामा और कृष्णा लड़कियों का जिक्र हुआ है । दोनो मेरे पड़ोस में पैदा हुई हैं—बड़ी हुई हैं । अब दोनों ही कालेज में पढ़ती हैं । श्यामा ऊढ़ा है और कृष्णा अनूढ़ा । मैं अभी से कृष्णा पर अपना एक विशेष अधिकार मान बैठा हूँ । कृष्णा का पोर्शिया का अभिनय विख्यात है ।

दोनों बहनों के सीलिया और रोजालिंड के अभिनय भी ख्यात हैं; पर मुझे कृष्णा का रोजालिंड बनना उतना

नहीं भाता। क्योंकि तब घृणानन्द ऑरलैण्डो बनकर रस में बिष घोल देता है। उस समय जी चाहता है, उठाकर प्रलय मचा दूँ। कृष्णा मेरे मुँह से तारीफ़ के दो शब्दों के लिये कई बार सिर फोड़ चुकी है; पर मैंने परवाह नहीं की। वह मेरे हठ को जानती है। इसीसे चुप रहती है।

घरवालों को मेरे ग्रेजुएट होने की इन्तज़ारी थी। वह भी मैं हो गया। तय था, शीघ्र ही कृष्णा मुझे मिल जायगी। यकायक पाँसा पलट गया। दुष्ट घृणानन्द शुरू से मेरे लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास कर रहा था; लेकिन वह इतना बढ़ जायगा, यह भरोसा न था। श्यामा के पति उसके दूरस्थ संबन्धी थे। बस, उन्हीं के ज़रिये वह बाज़ी मार गया। कृष्णा उसके लिए, सुना, रुक गई। शीघ्र ही पैंतालीस दिन के अन्दर बड़ी धूमधाम से ब्याह हो गया। कृष्णा ने मुझे भी निमंत्रण दिया था; पर मैं जाता क्या रोने के लिए ? ऐसा घाव कभी खाया न था। अभिलाषाएँ, इच्छाएँ और कामनाएँ सभी मृत हो गईं; लेकिन घृणानन्द को यह विजय चुनौती थी। मैं सब कुछ सहन कर सकता था; लेकिन चैलेंज नहीं।

कृष्णा की पराधीन और चंचल मनोवृत्ति ने मुझे बहुत प्रबोध किया। मैंने थोड़े-से अन्तर्द्वन्द्व के उपरान्त चिरकुमार रहने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उस समय मुझे प्रतीत हुआ कि मैंने घृणानन्द की विजय पर भी विजय पा ली है। इस तरह सहज ही शायद मेरा घाव पुर गया।

(४)

ऐसी भीषण प्रतिज्ञा कर लेने के बाद मुझे लौकिक यश-वैभव की परवा नहीं होनी चाहिए थी; पर ऐसा कहाँ हुआ। दूने परिश्रम, दूनी तेज़ी और चौगुने साहस के साथ मैं एम० ए०, एल-एल० बी० करने में लग गया। मुझे तो अपने चिर-शत्रु से अब अच्छी तरह बदला लेना था। वह भी अभी तक मेरे क़दम-से-क़दम मिलाकर चला आ रहा था।

कृष्णा को पाकर उसका भाग्य चमक गया था; पर मेरा भाग्य उसे खोकर एक अपूर्व प्रकाश से देदीप्यमान होने वाला था। दोनों ने एक ही हाल (कमरे) में बैठकर इम्तहान के पर्चे किये; लेकिन दोनों की विचार-धाराएँ विपरीत दिशाओं की ओर कल-कल छल-छल करती हुई

तुमुल रव से बही चली जा रही थीं। मुझे पक्की खबर थी, उसकी पढ़ाई की इतिश्री यहीं थी। उसके पैरों में सुनहला बंधन पड़ा था। वह पालतू कबूतर था। ममत्व को तोड़कर शून्य-नील गगन में अकेले विचरने की उसे स्वतंत्रता न थी। मैं था निर्द्वन्द्व, स्वाधीन और स्वच्छन्द-गामी। उन्मुक्त विशाल विराट् जगत् मेरी क्रीड़ा-स्थली था। मुझे रोकनेवाला कोई न था। मेरे ऊपर किसी का अंकुश न था। उसके संकुचित और सीमा-बद्ध अभ्युदय को अपने अनन्त अपरिसीम-विकास के सामने नगण्य प्रतीत करके मेरा मन अपूर्व आह्लाद से आलोड़ित हो रहा था। वह शुभ दिन किस मुहूर्त में आये, बस इसी की आतुर प्रतीक्षा में मेरी घड़ियाँ बीत रही थीं।

दोनों ने साथ-साथ एल-एल० बी० प्रथम श्रेणी में पास किया। यहाँ तक दोनों शत्रुओं का स्वर एक ही तार से बोल रहा था। अब पार्थक्य होने में देर न थी। शीघ्र ही एक विभाजक रेखा दोनों के उद्देश्य, दोनों के जीवन के राजमार्ग, नये सिरे से निर्माण करने जा रही थी।

मेरी विलायत-यात्रा को अँगुलियों पर गिने जाने

लायक दिन रह गये थे। घृणानन्द को वकालत शुरू करने में शायद उससे भी कम समय था। मैं धन बहाने को तैयार था; पर शेर था। वह लक्ष्मी को वरण करने जा रहा था; पर गीदड़-सा दबा, डरा और संकुचित था।

अब तो घंटों की देर थी; लेकिन यह क्या? यकायक यह कैसा वज्रपात! कैसा प्रलय!! घृणानन्द नहीं, मेरा दुश्मन नहीं, मेरा प्रतिद्वन्द्वी नहीं, जीवन में जागृति और स्फूर्ति फूँकनेवाला, मेरा स्पर्धी सहचर नहीं। ताज्जुब हो गया, आश्चर्य हो गया! वह अचानक चन्द मिनटों में नहीं रहा! नहा-धोकर पूजा करने के लिए कुशासन पर बैठा था। गंगा-जल लेकर आचमन करतेही गिर पड़ा। सेकण्डों में हृदय की गति रुक गई—उसका हार्ट फ़ेल हो गया।

नौ साल साथ-साथ पढ़कर जिसे कभी क़रीब से अच्छी तरह नहीं देखा था, विधाता की विडंबना, आज उसे मैं अपने कंधे पर ले जा रहा हूँ। मेरी कृष्णा, मेरी प्यार की हुई अनमोल चीज़, दुखित, व्यथित, अचेत होकर धूल के मोल हो गई है।

घृणानन्द नहीं रहा। मेरी विलायत-यात्रा भी रुक गई। मेरा अभ्युदय स्थिर हो गया। जोश और निरलस साहस के सारे स्रोत अवरुद्ध हो गये।

देखता हूँ मेरे दुश्मन और प्रतिस्पर्धी ने अपनी अवाञ्छित उपस्थिति से मेरा थोड़ा कुछ हरण करके मुझे बहुत कुछ दे दिया था और अब जाकर तो सभी कुछ ले गया है। इस जीवन में क्या मैं कुछ कर सकूँगा?—कभी नहीं।

———

वन्दी

(१)

चारों तरफ़ नीला जल नीले आकाश में मिल गया था। पर्वत-श्रेणियों की तरह मुँह उठाकर लहरें उठतीं और लय हो जातीं थीं। वह, क्षितिज के उस पार, अनन्तर दूरी तक फैला हुआ महासागर था। उस अखण्ड जलराशि के बीच एक छोटा-सा टापू चट्टानों के सहारे खड़ा था। लहरों के

उद्दण्ड प्रयत्न को बिफल करने के लिये ही मानों दृढ़ता उसकी रग-रग में भरी थी।

वहीं तल से टकरानेवाली फेनिल लहरों का पैर से स्पर्श करता हुआ, उन्नत-ललाट एक युवक बैठा था। वह वन्दी था—निर्वासित था।

वायु का झोंका उसके लम्बे बालों को लहराकर चला गया। पानी का रेला आया और 'छप-से' उसके आधे शरीर में लगकर लौट गया। यकायक उसकी आँखें तन गईं। उसने पैर से महासागर को ठुकराकर कहा—इतना गर्व ! जानता नहीं, तुझे मैंने विशाल साम्राज्य का क्षुद्र पोखर बनाना सोचा था। और अब ?

उसकी आँखें आप-ही-आप झुक गईं ; क्योंकि वह वन्दी था।

(२)

उस निर्जन टापू में कितनी रातें आईं और गईं। चन्द्रमा निकला, तारे उगे, अँधेरा गहरा हुआ, सूर्य की रोशनी फैली, लेकिन वन्दी के हृदय में वह उत्साह दिखाई न दिया। उसकी नीली आँखों में फिर कभी वह चमक नज़र न आई। उसकी स्मृति के सामने सदा निराशा

का परदा पड़ा प्रतीत होता था। उसकी हरएक हरकत में दीनता के भाव झलकते थे।

मुक्त गगन में समुद्री पक्षी उड़ता, तो वह चुपचाप बैठकर सिर झुका लेता। जङ्गली बकरा उछलकर जब पहाड़ी की चोटी पर जाकर तिरछी नज़र से उसकी ओर ताकता, तो वह चुपचाप अपनी हीनता स्वीकार कर लेता। समुद्र-गर्जन सुनकर उसका कलेजा काँप जाता था। उसके स्वप्नों का महल ढह चुका था। अतीत की हलचल एक धुँधली-सी याद रह गई थी। वर्तमान अँधेरा पड़ा था और भविष्यत् इतना अनिश्चित और जटिल था, कि उसके सुलझाने में मन लगता ही न था।

(३)

रात काली थी। समुद्र में तूफ़ान था। लहरें आकाश को छूती थीं। प्रलय—अभी-अभी दो मिनट में प्रलय होने वाला था।

वन्दी गहरी निद्रा में गुफा के द्वार पर सोया हुआ था। उसके नीचे ज़मीन हिलती थी, ऊपर आस्मान चक्कर काट रहा था।

उसने देखा—महासागर को चुनौती देकर वह कूद पड़ा। झटका देकर बेड़ियाँ तोड़ दीं। अनन्त जल-राशि को क्षण-भर में चीरकर वह किनारे जा खड़ा हुआ। उसके सिर पर राष्ट्रीय-झंडा लहराता था। क़िले उसके पैरों के पास पड़े थे। असंख्य सेना उसका बिगुल सुनने के लिये तैयार थी। उसका हृदय उछल रहा था। तलवार कमर में लटक रही थी। चारों तरफ बैण्ड बज रहा था। उसका जय-नाद आकाश में गूँज रहा था।

उसने उस विपुल वाहिनी का अच्छी तरह निरीक्षण किया। एक बार झंडे की ओर देखा, और कहा—दोस्तो! इस झंडे के नीचे एक विशाल साम्राज्य क़ायम होगा। दुनियाँ ने कभी जिसका ख़्वाब भी नहीं देखा था, उतना बड़ा। ये बड़े-बड़े महासागर तुम्हारे घर के तालाब होंगे। तुम इनकी लहरों पर शासन करोगे। तुम्हारी आँख के इशारे पर दुनियाँ चलेगी।

समस्त सेना ने झंडे के आगे सिर झुकाया और सम्राट् को जय से आकाश हिल उठा।

सेना 'मार्च' करने को तय्यार। खड़ी थी। क़िले की फसील पर तोप रक्खी थी। उसकेछूटने के

साथ ही कूच होनेवाला था। यकायक भयंकर शब्द हुआ। वन्दी उछलकर चट्टान पर खड़ा हो गया। पैरों की बेड़ियाँ बज उठीं। सामने के दरख़्त टूटकर भयंकर शब्द के साथ गिर पड़े। वह अपनो सेना को आख़िरी हुक्म देने के लिये दौड़ा; पर चारों ओर सिवा समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरों के और कुछ न था।

वह दिल को मसोसकर बैठ गया; क्योंकि वह वन्दो था।

तारा

भाभी ने जब हँसते हुए मिठाई तलब की, तो मैं उनकी बात नहीं समझ सका, पर—'गज़ट आने दो तब चाहे जितनी मिठाई ले लेना'—कह कर हैन्डबेग ज़मीन पर रख दिया और नौकर को बाहर से असबाब लाने का इशारा करके मैं ऊपर कोठे पर जाने लगा। मैंने सुना नहीं, भाभी ने फिर कुछ कहा—पर जब घूमकर देखा तो वे हँस रही थीं और तारा उन्हें

रोक रही थी। उस समय तारा के लजीले नेत्रों के भाव को देखकर मुझे विश्वास हो गया कि मैं बात को नहीं समझ सका—पर मैं कोठे पर चला ही गया।

डिप्टी कलक्टरी का इम्तहान देकर मैं लखनऊ से लौटा था। गत वर्ष एम० ए० फाइनल का इम्तहान दिया था, उसके तेरहवें दिन मेरा गौना हुआ था, तब से तारा केवल एक बार पन्द्रह दिनों के लिये अपने घर गई थी। नहीं तो उसे बराबर यहीं रहना पड़ा था। मैंने भी साल के कई महीने घर पर ही बिताये थे; लेकिन इस इम्तिहान के एक महीने पहले मैं कुछ सोच-समझ कर प्रयाग चला गया था। उस दिन मुझे पहली बार मालूम पड़ा था कि हर महीने में दस दफ़े रूठने पर भी अज्ञात रूप से मैं तारा के कितने समीप पहुँच गया हूँ और उससे अलग रहना अब मेरे जीवन की कितनी बड़ी अपूर्णता है।

लेकिन मैं चला आया, क्योंकि इम्तिहान के लिए तैयार होना था। यद्यपि मुझे इसको उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि मेरे भाई साहब को। उन्हींके सिर तमाम गृहस्थी का बोझ था, इसीलिये मेरे भविष्य और

परिवार की आवश्यकताओं को वे ही अधिक समझते थे। उन्हींने मुझे घर छोड़ देने की आज्ञा दी थी। मैंने इच्छा न रहने पर भी, उनकी आज्ञा का पालन किया।

जब मैं घर से चलने लगा था, तारा किवाड़ को पकड़े चुपचाप खड़ी थी। मैंने भी उस समय उससे कुछ कहना उचित नहीं समझा पर द्वार के बाहर पैर रखने से पहले एक बार मेरी आँखें अनायास उस ओर चली गईं। जो कुछ देखा कहा नहीं जा सकता। वह व्यग्रता का भाव; वे सजल नेत्र, उनका संदेश एक कथा थी जो अक्षरशः मेरे दिल में नक़्श हो गई। एक सेकण्ड में उन आँखों ने जो कुछ कह दिया उसी की मीमांसा गाड़ी में लेटे-लेटे मैंने करनी आरम्भ की और निश्चय कर लिया कि अपनी प्यारी तारा को बहुत जल्द अपने साथ रखने का इन्तज़ाम कर लूँगा। अब उसे इस तरह वियोग का दुख न होने पायेगा, जहाँ कहीं जाऊँगा वह मेरे साथ जावेगी। वह किशोरी को प्यार करती है यही तो एक झगड़ा है। उसके लिये मैं भावज से झगड़ लूँगा। क्या मैं उसका चाचा और तारा उसकी चाची नहीं? क्या हमें अपनी भतीजी पर इतना भी अधिकार नहीं? मुझे

विश्वास है जब मैं भावज से कहूँगा कि वे अपने तीन लड़के लड़कियों को अपने पास रक्खें और किशोरी को तारा के साथ भेज दें तो वे मान लेंगी। बस फिर तो तारा प्रसन्न ही रहेगी। यही सोचते हुए मैं प्रयाग पहुँच गया। वहाँ भी इम्तिहान के दिन तक मैं तारा की आँखों की वे बड़ी-बड़ी बूदें न भूल सका। मैं उनका ख़्याल करके बेचैन हो रहा था। मैंने दो-तीन पत्र भी लिखे थे; पर किसी का उत्तर नहीं मिला। इससे और भी चिन्ता थी। कभी-कभी मैं सोचता था कि अबकी बार तारा सचमुच रूठ गई है। यह अनुमान इसलिए और भी दृढ़ होता जा रहा था कि मैं चलते समय जानबूझकर उससे नहीं बोला था, इम्तिहान के दूसरे दिन मुझे तारा का लिफ़ाफ़ा मिला। उसे पढ़कर तसल्ली हुई और गर्व भी हुआ। मैं उसे केवल प्रेम की मूर्ति, सरलता का प्रतिरूप और एक अबोध बालिका ही समझता था, जो लज्जा के भार से हरदम दबी जा रही हो, लेकिन उसकी व्यवहार-कुशलता और भावी-जीवन की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं का मुझे उसी दिन पता चला। यदि मैं पहले से यह जानता, तो मेरा पथ और भी प्रशस्त हो जाता। उसने लिखा था—भविष्य जीवन के

सच्चे सुख के लिये मेरा मौन रहना ही अच्छा है। क्षणिक उमंगों को मैं कसकर दबाए हुए हूँ और इन्हें दबाना ही होगा। इम्तिहान देकर जब घर आओगे। तब मैं अच्छी तरह बताऊँगी कि मैं मान नहीं करती। सच्चा प्रेम-पथ ही हमारे जीवन का पथ है।

बस ये ही लाइनें बारबार पढ़ता हुआ, मैं लखनऊ गया। कुछ ऐसी लगन लग गई थी जो जीवन की संजीवनी शक्ति कही जा सकती है। उसी असित उत्साह में मैंने एक-एक पर्चा बड़ी .खुशी से किया था। वैसे मैं इम्तिहान के बाद एक दो हफ़्ते मित्रों के साथ सदा ही बिताता था, लेकिन अबकी मेरे जीवन की बदली हुई हालत ने तुरन्त ही घर चलने को मजबूर कर दिया। जब मैं वह से चल दिया, रास्ते में कई बार लज्जाभाव के कारण तबीयत हुई कि बीच में ही उतर पड़ूँ। नहीं तो भाभी मेरा .खूब ही मज़ाक बनाएँगी। बाल्य-बन्धु केशव आदि जब फबतियाँ कसेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा? इसके अलावा तारा बेचारी को भी कम बातें नहीं सुननी पड़ेंगी। मेरी व्यग्रता से उसे मुहल्ले भर की लड़कियाँ छका मारेंगी। पर यह सब कुछ सोचते हुये भी मैं चला आया, और

घर में पैर रखते ही भावज ने जब वही उपक्रम किया तो मैं मन ही मन कटता हुआ, अपने कमरे में चला गया कपड़े उतारकर बाहर भाई साहब के पास जाकर उन्हें इम्तिहान का हाल बताने लगा।

उसी दिन, नहीं उसी रात को, जब दीपक की जलती हुई लौ पर गिरकर पतिंगे निस्वार्थ प्रेम की रागिनी गा रहे थे, और तारा मेरे पास बैठी हुई अविचलित भाव से उसको सुनने में तन्मय हो रही थी। उसके जिज्ञासापूर्ण नेत्रों में उस रहस्य के लिये कई प्रश्न थे, उस विह्वल-उत्सर्ग के लिये अनन्त कौतूहल था, और हृदगत् समवेदना के लिए उसके सुन्दर नेत्रों में थे दो बड़े बड़े आँसू। जीवन की सब से अमूल्य निधि ऐसे आसुओं की बूँदें ही होती हैं जो स्वर्गीय अनुभूति को प्रकाशित कर रही हों। मैंने अचानक उसकी आँखों का...।

आँसुओं की बूँदें गालों पर बिखर गईं और अनुराग-रंजित होंठ मुसक्यान की अपूर्व शोभा से खिल उठे। मैंने उन पर अपने प्रेम की मुहर लगा दी। उस समय उसने मुझे रोकते हुए कहा—ठहरो भी, देखो तो बेचारा पतिङ्गा अभी-अभी जल मरा है और यह दूसरा भी वहीं जा रहा है।

मैंने कहा—जाने दो। वह प्रेम करता है।

वह पतिंगों का दीपक पर बारबार गिरना देखते हुए बोली—वह प्रेम करता है—अपना प्राण देकर—मैं भी तो तुमसे प्रेम करती हूँ। पर मेरा प्रेम इसके प्रेम के सामने कितना क्षुद्र है? क्या मानवीय प्रेम में ऐसा आदर्श-उत्सर्ग संभव नहीं?—मैं क्यों जीवन के इस भार को अपरिसीम अभिलाषाओं के साथ बहन किये जा रही हूँ? गुलामी में मुझे और तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा?

मैंने कहा—अव्यक्त और अज्ञात होने से मानवीय प्रेम के जो आदर्श दिखाई देते हैं, वे भी अवहेलनीय नहीं।

वह कुछ और भी कहना चाहती थी पर मैं बीच ही में पूछ उठा—भाभी क्या कहती थीं?

उसकी सूरत पर लज्जा की लालिमा स्पष्ट हो गई। और उसने कहा—वे ही जानें—और तुमने तो वादा कर दिया है।

यह जवाब तो मिल गया। मैंने कुछ-कुछ अनुमान किया। कोई ऐसी बात है जिसे यह अभी बताना नहीं चाहती।

❀ ❀ ❀

दूसरे दिन तारा परोस रही थी, और मैं किशोरी के

साथ खाना खा रहा था तब भाभी ने दुबारा कहा—लाला जी, इस तरह काम नहीं चलेगा। यह समझ रक्खो कि मैं माननेवाली नहीं हूँ। इस डबल इम्तिहान की डबल और पेशगी दावत लिये बिना मैं किसी तरह नहीं मान सकती।

लेकिन भाभी की इन बातों से भी मुझे संदेह ही रहा जब तक उन्होंने साफ़-साफ़ नहीं कह दिया। जब मुझे निश्चय हो गया तो किसी तरह की विशेष इच्छा न रहते हुए भी मुझे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ। अब तक मैं अपने आपको बच्चा ही समझ रहा था, आज पहली बार पिता होने की कल्पना का विचार मुझे कितना मधुर कितना अलौकिक और कितना मनोहर मालूम हुआ। मेरी नस-नस में, मेरे रोम-रोम में उल्लास और आशा के अंकुर उदय होने लगे। कल्पनाओं के स्वर्ण-जाल में मेरा हृदय इधर से उधर झूलने लगा। आनन्द को छोड़कर उस दिन मुझे कुछ दिखाई ही नहीं पड़ा। एकान्त में जब तारा से मैंने हँसकर पूछा, तो वह केवल लजाकर रह गई। उस लज्जा में जो करुण भाव था, उसे मेरे नेत्र उस समय न देख सके। मैंने नहीं समझा कि प्यारी तारा सचमुच

मेरे प्रेम का पतिंगा बनना चाहती है, उसने जिस आदर्श को पसन्द कर लिया है, उसे ही पाने की यह सब तैयारी है। मैंने एक क्षण के लिये भी अपनी प्रियतमा के अपूर्व उत्सर्ग की बात नहीं सोच पाई। रात दिन नये नये इरादे, नई नई स्कीमें तैयार कर रहा था कि इम्तिहान में पास होकर, नियुक्ति होने पर बाहर जाऊँगा। तारा अपनी गोद का खिलौना लेकर मेरे साथ चलेगी; अहा ! कैसी सुन्दर वह घड़ी होगी। उन दिनों के सभी प्रभात और सभी संध्यायें अपनी निराली शोभा लेकर आयेंगे।...............एक दिन वह बच्चा आई० सी० एस० होगा, जो मैं नहीं कर सका उसे वह करेगा, उस दिन तारा कितनी सुखी होगी।

मेरे इम्तिहान का नतीजा आ गया।

पहला नंबर मेरा आया। इन दिनों तारा पीली पड़ गई थी। उसी दशा में उसने यह समाचार सुना, वह हँसी। इसके बाद उसे दो दिनों तक बुख़ार आ गया। मैंने समझा बेहद ख़ुशी की वजह से ही ऐसा हुआ है। वह अच्छी हो गई तो मैंने एक दिन उसे भी बता दिया कि अब शीघ्र ही उसे मेरे साथ बाहर चलना पड़ेगा।

उसने लम्बी साँस खींचकर मौन धारण कर लिया। मैंने समझा उसकी स्वीकृति हो गई—पर शायद वैसा नहीं था!

जिस दिन डिप्टी कलक्टरी का नियुक्ति-पत्र मेरे पास पहुँचा, उसी दिन नवजात शिशु को छोड़कर मेरी प्रियतमा न जाने कहाँ चली गई? मैंने उसी के पास गिरकर अपना सिर पटक दिया। भाई और भावज ने बलपूर्वक मुझे उठा लिया। मैंने खड़े होकर देखा तो जान पड़ा तारा मुसकुरा रही है, उसके पास जलते हुए दीपक पर पतंगे गिर रहे हैं और वह मुझसे कह रही है—गुलामी में मुझे और तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा?

इस बार मैंने उसका आशय समझा। नियुक्ति-पत्र के अनन्त टुकड़े करके मैंने फेंक दिये और तारा के प्रेम-पथ पर, सच्चे आनन्द-पथ पर चलने का प्रण कर लिया। मुझे विश्वास है मेरी सुन्दरी तारा को इससे सन्तोष होगा और वह मेरे अपराध को क्षमा कर देगी। अन्त में हम दोनों का इस बार सच्चा, अनन्त मिलन अवश्य होगा।

निरुद्देश्य

(१)
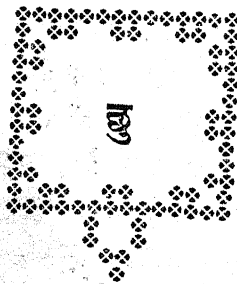
छुट्टी का दिन था, और मज़े की वसंती बहार। मैं घर से निकला—निरुद्देश्य। टहलकर ज़रा बाहर सड़क पर गया। फिर घूमकर गली में आया। एक मित्र को पुकारा! ज़रा हँसा, बोला। वह बोले—"आओ बैठो, कुछ काम की बातें हों।"

मैंने कहा—"काम के लिए हफ़्ते के और दिन हैं। आज जी बहलाने दो, यार।"

"अच्छी बात है।"

चलो .फुर्सत हुई। जान बची, लाखों पाये। मित्रों का एक दूसरा झोंका आया। मैं कटी पतंग की तरह उसी तरफ़ को उड़ गया। बड़ा मज़ा रहा। .खूब गपशप हुई। दुपहरी को एक नींद सो गया था। वह हरारत अब दूर हुई।

द्वापर के वंशीवाले की जगह आजकल साइकिल-वालों ने ली है। जिधर देखो, हाथ में हैंडिल पकड़े हवा में उड़े जा रहे हैं। मैंने पुकारकर कहा—"अजी ओ......।"

देखा, रुक गये—उतर आये। मुस्कराकर बग़ैर पूछे ही कहा—"ज़रा योंही होस्टल की तरफ़...!"

मैंने ज़बान दाँत से काटकर पूछा—"मैं भी चल सकता हूँ?"

"ज़रूर।"

चाहा चलूँ, पर रुक गया। एक साथ कई दफ़ाएँ लग गईं। वह हँसकर चल दिये, मैं रह गया। तय हुआ, घूमने की ठहरी। सब लोग चल पड़े। मेरे पैर में पुरानी चट्टी, सिरकी टोपी नदारद; पर घर जाने को .फुर्सत कहाँ, और इजाज़त भी नहीं।

साढ़े चार बज चुके थे। हलकी धूप हवा का आलिंगन करती हुई बुरी नहीं मालूम पड़ती थी। हरे-हरे खेतों की छटा, फूली सरसों का अल्हड़ नाच। नीरव, निर्जीव प्रकृति में सजीव कवित्व, सरकार सौंदर्य और अनंत संगीत मुग्धभाव से किसी अज्ञात अगोचर के चरणों में अपनी अंजलि अर्पित कर रहे थे।

मटर की हरी-हरी छीमी चुगते हुये हम लोग चले। लहरों को छूकर आते हुये अनिल और आपस के विनोद से पथ-श्रम भी हलका हो गया।

गाँवों का रस सूख गया है। आजकल वहाँ क्या है? वही दरिद्रता का नर्तन, वही विषाद का करुणालाप; लेकिन नदी के जिस कछार में हम जा रहे थे, वहाँ प्रकृति का वैभव लुट रहा था। जी .खुश हो गया; मित्रों की चहचहाहट में मन मचलकर कहने लगा— एक कुटी बने। यहीं रहकर इस बहती हुई कविता को हृदय के पत्रों में बटोर लिया जाय।

दूर चने के खेत से एक किसान के लड़के ने गाया— "उठु अलबेली, बुहारि आउ अँगना। उठु..."। मालूम पड़ा, सचमुच ही अलबेली प्रकृति मस्त पड़ी इठला रही

है। बच्चे का कोमल भोला कंठ उसे मधुर कर्तव्य को ओर ठेल रहा है।

(२)

जहाँ कोई लक्ष्य नहीं, वहाँ नियम भी नहीं। अनियम चले। पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन--शायद ही कोई दिशा छूटी हो। किसी से पूछना जुर्म था और कुछ बतलाना पाप। सभी चुपचाप अपनी-अपनी धुन में, मस्तानी चाल से, चले जा रहे थे।

मटर की छीमीं चुक गईं। कछार की विस्तार-सीमा समाप्त हुई। हँसी की संलग्नता को ठेस लगी। लौटकर देखा—ओहो! घर तो दूर छूट गया था।

कोई हर्ज नहीं, ढालू किनारों पर चढ़ने लगे। पैर में चट्टी थो न। उसका पुराना तस्मा उखड़ गया। बड़ी आफ़त हुई। मित्र कहलानेवाले शत्रुओं ने एक क़हक़हे से मेरी परेशानी का स्वागत किया। सब्र करके आगे चला। दो क़दम बाद ही एक भटकटैये पर पैर पड़ गया। काँटे चुभ गये। मैं उछल पड़ा, फिर बैठकर उन्हें निकालने लगा। तब तक मित्रमंडली में आयुर्वेद का विवाद उपस्थित हो गया। याद नहीं आता, किन-किन रोगों के

लिये भटकटैया के वृक्ष, पत्ते और जड़, सब का उल्लेख होने लगा। काँटों से फुर्सत पाकर मैंने कुछ झुँझलाहट के साथ कहा—मालूम पड़ता है, अब कल्पवृक्ष की जगह इसी माधवीलता ने ली है !

मुक्तधारा की तरह स्वच्छ मुस्कराहट को बेदर्दी से बिखेरते हुये किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। क्षण-भर समझ पड़ा, धन्वन्तरि की विद्या के जो कुछ पन्ने खो गये थे, वे सब इन्हीं लोगों ने बरामद कर लिये हैं। जब विषय हो छिड़ गया, तो भटकटैया ही क्यों, नागफनी ऊँटकटारा, थूहर और ब्रह्मदंडी सभी बारी-बारी से आने लगे। सभी को सेवन-विधि की शास्त्र-सम्मत विवेचना मय अनोपान के होने लगी। किसी ने मंजरी झाड़कर काँटे चुभाये, किसी ने फूल तोड़कर धोती उलझा ली, किसी ने फल तोड़कर कड़वे दूध में हाथ चिपचिपा लिया। मेरी बारी आई। ख़ूब हँसा, ख़ूब बनाया। एक-एक की अच्छी तरह ख़बर ली। जी ख़ुश हो गया। सब लोग आगे बढ़ चले। रुके तो सिर्फ़ एक पनघट पर। गाँव की बहुएँ सशङ्कित हिरनियों की तरह घूँघट के भीतर से एक दूसरी का मुँह ताकने लगीं। पानी भरनेवाली ने

पानी भरना रोक दिया। प्यास तो लगी थी, शायद सभी को; पर किससे कहते। परदे की प्रथा का मन-ही-मन श्राद्ध करते हुये चल पड़े। गाँव में प्रवेश किया।

भड़भूँजे को दूकान मिली। हरे-हरे अनाज भूँजे जा रहे थे। शहर की टोली का जी ललचाया। कुछ पैसों के चने भुनाये गये। भोलीभाली सलोनी युवती ने नमक-मिर्च बग़ैर पैसों के ही देकर उच्छृंखल दिलों को कृतज्ञता के रेशमी धागे में फँसा लिया। अगर आगे जाने की उत्कट उत्सुकता न होती, तो कुछ देर वहीं बैठकर चने चबाये जाते।

गाँव के दूसरे सिरे पर जाकर एक सत्संगी साधु की कुटी में विश्राम लिया, जल पिया और की थोड़ी देर तक वेदांत-चर्चा। घने बग़ीचे के अंचल में, विशाल वट के नीचे पक्षियों के घोंसले की तरह, वह कुटिया थी। ज़रा-सी देर में समस्त विकार तिरोहित होकर अंतःकरण स्वच्छ निर्मल हो गया।

(३)

दिन अपने उजले धुले हुए वस्त्रों को समेट रहा था और संध्या धूमिल उत्तरीय को उतारकर फेंक रही थी।

चलाचली का वक्त था। स्वच्छंद विहंग अपने-अपने नीड़ों में आश्रय लेने जा रहे थे। हम लोग भी चले।

बाहर हार से चरवाहे लौट पड़े थे। अपनी तो कह सकता हूँ, मेरा हृदय अपनी नवोढ़ा श्रीमती की आकुलता-भरी प्रतीक्षा का अनुभव कर बेचैन हो रहा था।

विनोदिनी गोष्ठी के सभी सदस्य अल्हड़ जवानी के रंग में रँगे थे, सिर्फ़ महाशय गोकुलचंद उर्फ़ जीनतान ही एक ऐसे थे, जिन पर बुढ़ापे का उज्ज्वल साया पड़ चुका था। वह हम लोगों के नेता थे, बुजुर्ग थे—हर बात में, हर काम में; क्योंकि उनका दिल अभी तक पूर्ण स्वस्थ और जवान बना हुआ था। वे आगे-आगे डबल-मार्च करते हुए चले। हम लोग मालगाड़ी के डब्बों की तरह उनका अनुसरण करने लगे।

एकाएक हाल्ट हो गया। मिस्टर जीनतान अपने समवयस्क किसी खूसट से उलझ गये। राम-जुहार हुई। कुशल-क्षेम पूछी। आगंतुक ने कहा—यहीं जा रहा हूँ। गाँव के पोस्ट-आफ़िस में लड़की है न ?

मिस्टर जीनतान ने गंभीरता से सिर हिलाया। मालूम हुआ, जैसे वह सब कुछ जानते हों।

शायद साथियों की दशा का उन्हें अनुमान था, इसीलिए फिर कहा—अच्छा जाइए। बहुत दिनों से आपका चूरन चखने को नहीं मिला, किसी दिन मकान पर लाइएगा।

"हाँ-हाँ, ज़रूर"—कहकर वह अपनी राह लगे और हम लोग घर की तरफ़ मुड़े। मैंने मि० जीनतान से पूछा—यह कौन थे, बग़ल को पेटी में चूरन था ?

जीनतान—हाँ, इनका बड़ा मज़ेदार और बड़ा लम्बा क़िस्सा है। बेचारे आजकल चूरन बेचते हैं।

एक साथी ने कहा—हाँ, हालत से मालूम पड़ता है, बड़े ग़रीब हैं।

(४)

घर पहुँचने में देर थी। मेरे आग्रह से जीनतान महाशय ने क़िस्सा आरंभ किया, कहा—बीस-बाईस बरस पहले यह कहीं से बदलकर अपने यहाँ डाकख़ाने में आया था। उसी समय एक और बाबू भी आया। दोनों थे परदेशी, दोनों ही थे अकेले। मुहब्बत जुड़ गई। साथ-ही-साथ रहने लगे—मित्र-मित्र की तरह, भाई-भाई को तरह। रोटी भी साथ ही, रहना भी

साथ ही, और गपशप भी साथ ही। मज़ा था—सिर्फ़ मज़ा।

कुछ दिन बाद दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों को भी ले आये। एक बड़ा-सा मकान लिया गया। ऊपर-ऊपर के कमरे बाँट लिये गये, नीचे-नीचे के।

जैसा पुरुषों में मेल था, उससे अधिक स्त्रियों में हो गया। एक दूसरी के बिना क्षण-भर कल न लेती। दोनों मित्र यह देख-देखकर मन-ही-मन खुश होते, पुलकित और प्रसन्न होते थे। दोनों परिवारों को अपने-अपने घर भूल गये थे।

कुछ दिनों बाद इन्होंने अपने मित्र और साथी को नवीन सृष्टि की सूचना पर बधाई दी। उन्होंने हँसकर कहा—आशा है, मुझे भी शीघ्र ही ऐसा अवसर मिलेगा। दोनों की श्रीमतियाँ सुन रही थीं। बड़ा तमाशा रहा। मन-ही-मन खुश होकर भी दोनों ही अपने-अपने धृष्ट स्वामियों से रूठ गईं।

इनके मित्र अपनी स्त्री को घर ले जा रहे थे। अपनी स्त्री की राय के मुताबिक इन्होंने रोक दिया, कहा—

अजो, यहीं रहने दो। डर क्या है, मेरी स्त्री सब कर लेगी।

समय हो चुका था। बच्चा दो-चार दिन में होने ही वाला था कि इनके तबादले का हुक्म आ गया। चौबीस घंटे में दो सौ मील पहुँचकर चार्ज लेना था। बड़ी आफ़त आ पड़ी। मित्र घबड़ा गये। मित्र की स्त्री अपनी असहाय दशा का अनुमान करके रो पड़ी।

आख़िर तय किया—कुछ दिन के लिए स्त्री को यहीं छोड़कर चले जायँ। मित्र ने साश्चर्य इनके चेहरे की तरफ़ देखा, दोनों ही स्त्रियाँ स्तब्ध रह गईं! मित्र की स्त्री ने तो अनेक धन्यवाद दिये।

यह चल पड़े। कृतज्ञ मित्र स्टेशन तक साथ आकर इन्हें गाड़ी पर बिठा गये।

आठ-दस दिन बाद इन्हें अपनी स्त्री की चिट्ठी मिली—जोजी का हाल बहुत ख़राब हो रहा है। बच्चा नहीं हो रहा है। मनोहर बाबू सोचते हैं, आपरेशन हो जाय। कहीं जोजी को कुछ हो न जाय। उनकी बुरी दशा है।

उसी दिन थोड़ी देर बाद मित्रवर मनोहर बाबू का

तार मिला—स्त्री का स्वर्गवास हो गया। आपरेशन का कोई फल नहीं हुआ।

तीसरे दिन फिर स्त्री की चिट्ठी मिली। उसने लिखा था—तार मिल चुका होगा। जीजी की मृत्यु के कारण मेरा तो दिल टूट गया। मनोहर बाबू तो हाल-बे-हाल हैं। पिछले तीन दिनों से वह बेहोश पड़े हैं। आज कुछ-कुछ बुख़ार भी है। ईश्वर! क्या होना है?

यह बेचारे बड़ी आफ़त में पड़े। ऐसी दशा में स्त्री को लेने कैसे पहुँच जायँ? व्यर्थ जाकर ख़र्च करने की सामर्थ्य नहीं। पत्र का उत्तर दे दिया। शीघ्र ही छुट्टी लेकर पहुँचने को लिख दिया।

आठ दिन बाद दरख़्वास्त दी। छुट्टी मंजूर हुई, लेकिन बड़े दिन की छुट्टियों के बाद। बात कितने ही दिनों को टल गई। पाँच या सात जनवरी को रेल में सवार होकर वहाँ पहुँच गये। इक्का किया, सीधे घर जा पहुँचे। पर ऐं! घर में तो बड़ा-सा ताला पड़ा था! पड़ोसियों से पूछते डर-सा लगा। बस, डाकख़ाने की तरफ़ भागे।

डाकख़ाने का भी कायाकल्प हो चुका था। सब नये-नये बाबू थे। दरियाफ़्त किया, उत्तर मिला—बाबू मनोहर-

लाल का तबादला हो गया है। तबादला भी नज़दीक नहीं, तीन सौ मील दूर। कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

आप पूरब थे मित्र पश्चिम गये; और स्त्री ? कुछ पता नहीं, किससे पूछें ! आकाश घूम गया, पृथ्वी हिलने लगी, मस्तिष्क चकरा गया, जी सनसना आया। माथे को हाथ से दाबकर बाहर बेंच पर ही बैठ गये। ज़रा देर में एक पुराने पोस्टमैन ने आकर पहचाना। बंदगी करके पूछा—बाबूजी, आप कहाँ ?

"यहीं आया था। बाबू मनोहरलाल......।"

"जी हाँ, जब से आप गये, उन बेचारों पर बड़ी मुसीबतें आईं। सुना ही होगा उनकी स्त्री...।"

"हाँ, सब सुना है। तभी तो यहाँ आया था।"

"उन्हें भी आप ही की तरह चौबीस घंटे में चार्ज लेने का हुक्म मिला था। बेचारे ताबड़तोड़ भागे।"

मित्र की विवशता का ख़याल किया, अपनी संशयालु प्रकृति को धिक्कारा। मन ने कहा—वह खुद ही लेकर पहुँचेंगे। उन्हें खुद ही क्या कम फ़िक्र होगी और कहीं जा न पहुँचे हों। आगे जाने की ज़रूरत नहीं समझी। वहीं से घर लौट आये। दो-चार, आठ-पन्द्रह दिन और

हो गये; न कुछ ख़बर, न कोई पत्र। हृदय में बेचैनी बढ़ने लगी। एक-दो-तीन, न-जाने कितने पत्र लिख मारे; पर कुछ फल नहीं। आख़िर छुट्टी लेकर चल ही तो पड़े।

छत्तीस घन्टे रेल में बिताकर यथास्थान पहुँचे। पोस्टआफ़िस में मित्र मिले। मुँह नीचे छिपा लिया। हँसी-ख़ुशी का ज़िक्र नहीं। यह भी बैठे रहे। एक-दो बार उनकी स्त्री की चर्चा चलाई, वह भी आगे न बढ़ सकी। शाम को मित्र घर चलने लगे, पूछा—चलोगे न?

यह बग़ैर उत्तर दिये ही चल पड़े। मित्र ने अच्छा-सा मकान किराये पर ले रक्खा था। पहुँचकर कुण्डी खटखटाई। दुमंज़िले से छम-छम की एक परिचित आवाज़ भीतर दरवाज़े तक आकर रुक गई। किवाड़ खुल गये, पर कोई नज़र न आया। चुपचाप कुण्डी खोल कर एक छाया घर के अन्दर छिप गई। पूरी तरह न देखकर भी इन्होंने पहचान लिया।

बाहर बैठक में मेहमान को ठहराकर मित्र अन्दर गये। दस-पन्द्रह, बीस-पच्चीस मिनट की जगह एक घंटे से अधिक हो गया, लेकिन कोई न आया।

कमरा बिलकुल अन्धकारपूर्ण हो गया, पर कोई ख़बर लेनेवाला नहीं। किसी तरह न रहा गया, तो इन्होंने धीरे से अन्दर झाँका। वहाँ भी कोई नहीं। साहस करके अन्दर प्रवेश किया। दालान को पारकर आँगन में, आँगन से दूसरी दालान में, फिर उसी तरह चुपके से जीने में चढ़ गये। ऊपर खुली छत के पास-पास तीन कमरे थे। एक कमरे से रोशनी निकलकर छत पर फैल रही थी! दूसरा कमरा अँधेरा पड़ा था। उसी में घुस गये। किवाड़ की दराज़ में आँख लगाकर देखा—बढ़िया गुलाबी रेशमी साड़ी पहने इन्हींकी स्त्री मित्र की गोद में बैठी थी। शायद आँसू बहा रही थी! मनोहरलाल गलबहियाँ डाले उसके आँसू पोंछ रहा था।

सोच सकते होंगे, उस समय की इनकी दशा। फिर भी बहादुर खड़ा ही रहा! मित्र ने स्त्री का बार-बार चुम्बन करके कहा—तुम डरती क्यों हो? मैं जाकर उन्हें चिट्ठी दिये देता हूँ। समझदार होंगे, अभी चले जायँगे, कहीं धर्मशाला में डेरा डालेंगे। गड़बड़ करेंगे, दो धक्के देकर निकाल दूँगा।

क्रोध के कारण इनका शरीर काँपने लगा। इधर-उधर कमरे में तलाश किया, कुछ मिला नहीं। जी में

आया, खाली हाथ ही पहुँचकर दोनों के सिर लड़ाकर फोड़ डालूँ, मारूँ और मर जाऊँ; लेकिन फिर कुछ सोचकर सँभल गये। चुपचाप काँपते हुए बाहर निकल आये। जीने से होकर बैठक में पहुँच गये। सब असबाब वहाँ छोड़कर सिर्फ़ एक लोटा लेकर निकल पड़े।

कई दिन बाद मनोहर बाबू ने एक पत्र लाकर अपनी नई स्त्री को दिया। आशीर्वाद बाँचकर उसका जी भारी हो गया।

(५)

जोनतान महाशय ने कहा—अब जाइए अपने घर, आगे किसी और दिन सुनाएँगे। पर किसी ने न माना, ऐसी मजेदार कहानी सुनने के लिए सभी आतुर हो रहे थे। एक जगह उन्हें पकड़कर बिठा लिया गया।

जोनतान महाशय ने विवश होकर कहना शुरू किया—जो घर से एक लोटा लेकर निकलता है, वह सीधा साधुओं में जा मिलता है, हिंदुस्तान में यह प्रथा बहुत पुरानी है। इन्होंने भी असमय में संन्यास धारण कर लिया। बस्तियों में आना छोड़ दिया, मनुष्यों से मिलना छोड़ दिया। एकांत वनों में, निर्जन कछारों में रहकर

आत्मा के लिए शांति की खोज करने लगे। बरसें तपश्चर्या में बीत गईं। सुदूर बस्तियों में इनकी शोहरत हो गई। गृहस्थ स्त्री-पुरुष इनको पहुँचा हुआ महात्मा समझने लगे। इनके मुँह से आशीर्वाद के दो शब्द सुनने के लिए वे अपना सर्वस्व छोड़ने को तैयार थे। लेकिन इनके मन में शांति न थी, आत्मा अंतर की अग्नि-ज्वाला से भस्मसात हुई जा रही थी।

अंत में यही प्रतीतकर यह व्यथित हो उठे कि किस अदृश्य शक्ति ने उस समय मेरे हाथों को जकड़ दिया था—मेरी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया था? मुझे चैन हो भी तो कैसे? वे दोनों आनन्द उड़ाते रहें, और मैं अकर्मण्य बनकर आत्मानन्द में लीन होने की चेष्टा करूँ? नहीं, उनके आनन्द का आमूल उच्छेद किये बग़ैर मुझे शांति कहाँ?

विंध्याचल पर्वत का सघन अंचल छोड़कर एक दिन महात्माजी फिर त्यक्त संसार की तरफ़ चल पड़े। उनके जटाच्छादित मुख-मंडल पर वही राग-द्वेष था, और थी वही ईर्ष्या-लिप्सा।

बाबू मनोहरलाल फिर पुराने दफ्तर में पहुँच गये थे; पुराना ही मकान किराये पर ले रक्खा था। इन कई

बरसों में उनको अच्छी तरक्क़ी हो गई थी। एक लड़का और दो लड़कियाँ तीन संतानें थीं। गृहस्थी के सभी सुख उन्हें प्राप्त थे।

जब इन्होंने आकर वहीं बस्ती में अपनी धूनी रमाई, तो उपर्युक्त बातें शीघ्र ही मालूम हो गईं।

चार-छः दिन में महात्मा के अखंड-वैराग्य की चारों तरफ़ चर्चा होने लगी। महात्माजी किसी की पाई छूते न थे। हाँ, जो भक्ति-भाव से पहुँच जाता, घंटे दो घंटे सत्संग करता, उसे आशीर्वाद दे देते। उनकी बहुत-सी बातें तो अक्षरशः सत्य देखी जातीं।

एक दिन संध्या समय लड़के को गोद में लिए एक स्त्री दो लड़कियों के साथ आई। महात्माजी प्राणायाम कर रहे थे। स्त्री आकर चुपचाप बैठ गई। चंचल बालक लड़की से भिड़कर रो पड़ा। महात्माजी की समाधि भंग हो गई। बड़ी देर तक एकटक होकर लड़के-लड़कियों की बालक्रीड़ा देखते रहे।

महात्माजी की समाधि खुलते देखकर स्त्री ने झुककर चरणों में सिर नवाया, और दुःखित आर्द्र कंठ से कहा—महाराज, मैं बड़ी पापिन हूँ, फिर भी इस जीवन में मैंने

बड़े आनन्द उठाये। सब इच्छाएँ तो पूर्ण हो चुकीं, केवल एक शेष है। वह पूर्ण होगी कि नहीं, यही आपसे पूछने आई हूँ।

महात्मा ने सिर हिला दिया। वह स्त्री को अभी तक पहचान न सके थे। स्त्री ने उसी तरह सजल नेत्र अतीत जीवन की सारी कथा सुनाकर पूछा—भगवन्, मेरे स्वामी उसी समय, उसी अँधेरी रात में, चले गये। पाप के आवरण ने मुझे इतना ढक रक्खा था कि मैं कुछ न कर सकी। तीसरे दिन उनका पत्र आया था। उसमें उन्होंने मेरे नवीन पाप-सम्बन्ध को फलने-फूलने का आशीर्वाद दिया था। उसी के फल-स्वरूप आज मेरी गोद भरी-पुरी है। भगवन्, मेरी एक ही अभिलाषा शेष है कि एक दिन मेरे स्वामी आकर अपने आशीर्वाद के फल को देख जायँ। मुझ पापिनी के प्रज्वलित हृदय को अपने शीतल दर्शन से शांत कर जायँ। भगवन्! क्या वे आवेंगे?

महात्मा की आँखों से थोड़े-से आँसू लंबी बिखरी हुई जटाओं में गिर पड़े। उन्होंने एक बार फिर तीनों लड़के-लड़कियों पर गहरी नज़र डालकर भर्राई हुई आवाज़ में उत्तर दिया—हाँ, वह अवश्य आवेंगे। रोओ नहीं भाग्यवती!

स्त्री ने आकुल होकर उत्कंठा से पूछा—कब ?

"बहुत शीघ्र"

"आखिर, कब तक ? मैं रास्ता देखती-देखती बहुत थक गई हूँ।"

"विश्वास रक्खो, शायद कल ही आ जायँ।"—महात्मा ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा।

स्त्री बड़ी श्रद्धा के साथ महात्मा के चरणों में मत्था टेककर अन्धकार में एक ओर चली गई। महात्माजी ने दीपक बुझा दिया। धूनी पर राख उलट दी और वट के नीचे आह भरकर लेट रहे। सारी रात करवटें बदलकर काटी। आँखों से कितना पानी निकल गया, हृदय का कितना अमृत ढुलक गया। बार-बार रह-रहकर एक-एक बात को याद आती थी। सोचते थे, हाय वह अतीत ! आह भरते थे और शून्य में कुछ खोजते थे ! फूल-से उन लड़के लड़कियों की तस्वीरें आँखों के सामने नाचती थीं।

प्रातःकाल महात्माजी ने नाई को बुलाकर जटाएँ मुड़वा दीं। धूनी का लक्कड़ उखाड़कर फेंक दिया और चिमटे कमंडल को अंतिम नमस्कार करके एक सीधे-साधे नागरिक की तरह उठ खड़े हुये ! क्षणभर पहले के जटा-

जूटधारी महात्मा की मृत्यु हो गई, और उनकी जगह आविर्भूत हुए एक वयस्क भद्र पुरुष। पूरे ग्यारह बरस बाद एक बार फिर बाबू मनोहरलाल के दरवाज़े को साँकल पीटकर गम्भीर भाव से खड़े हो गये। बड़ी लड़की ने निकल-कर कहा—बाबू दफ्तर गये हैं, आप कहाँ से आये हैं ?

इन्होंने कहा—तुम्हारी माँ कहाँ हैं ? जाओ उन्हें बुला लाओ।

लड़की माँ को बुला लाई। आते ही स्त्री ने पहचान लिया। वह किवाड़ पकड़कर खड़ी रह गई। उसकी आँखों से आँसू की धारा झरझर गिरने लगी। संकोच और लज्जा से वह आँख न मिला सकी।

इन्होंने कहा—मुझे पहचाना सरला ? (यही उसका नाम था)

सरला ने सिर झुकाकर कहा—बस, क्षमा कीजिए। मैंने बड़ा पाप किया है।

इन्होंने कहा—ख़ैर, अब उसका ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं। भाग्य बड़ा प्रबल होता है ! भूल जाओ उस बात को, अब मैं तुम्हारे घर मेहमान आया हूँ। बोलो, कुछ खातिर करोगी।

सरला के मुँह से एक भी शब्द न निकला। उसका कलेजा शायद गले में आकर अटक गया था।

शाम हुई। मनोहर बाबू आये। राख में से अनायास प्रकट हुये स्फुलिंग की तरह मित्र को घर पर क़ब्ज़ा जमाये देखकर उनका कलेजा थर्रा गया। कुछ कहा नहीं। खाना खाया, चुपचाप लेट रहे। रात को दस बजे मेहमान स्वयं ही आकर उपस्थित हुआ, बोला—मित्र, हो गया सो हो गया। ग्लानि से आत्मा को गिराने की ज़रूरत नहीं। बस, आनंद से रहो। मेरा तो यही आशीर्वाद तब था और अब भी है। हाँ, एक बात विशेष है। अगर इजाज़त हो, तो मैं भी दरवाज़े की कोठरी में पड़ा रहूँ। इन लड़के-लड़कियों का मोह मेरे पैरों में बेड़ियाँ डाल रहा है।

मनोहर बाबू को अनिच्छा होते हुये भी इच्छा प्रकट करनी पड़ी। मेहमान का डेरा उसी समय से बाहर कोठरी में पड़ा है। वहीं यह अब भी रहते हैं। दिनभर चूरन बेंचकर कुछ पैसे पा जाते हैं और लड़के-लड़कियों में बाँट देते हैं। सरला के बच्चे इनसे विशेष हिले हैं। बड़ी लड़की का ब्याह हो गया है। इन्होंने ही कन्यादान किया था। कभी-कभी एक-दो दिन के लिए यह बड़ी लड़की को

देखने चले जाते हैं। आज भी वहीं गये हैं। जब तक यह लौट न जायँगे, छोटा लड़का और लड़की सरला की जान खा डालेंगे। उन लड़के-लड़कियों को अपना ही समझने के लिए भगवान ने इन्हें सुबुद्धि दे दी है; लेकिन मनोहर बाबू की शंका शायद अभी तक कम नहीं है।

हत्यारा

(१)
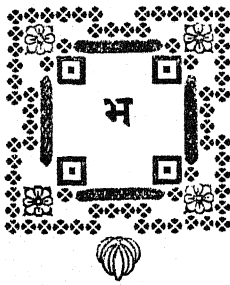
क्त की सबसे सुन्दर सृष्टि हैं उसके भगवान; उन्हें बनाकर फिर वह उन्हींसे कर्त्तव्य की प्रेरणा पाता है। दीनानाथ की सबसे सुन्दर सृष्टि थी मुक्ति-भावना। क्योंकि उसीसे उसे हत्या की प्रेरणा हुई। जिस दिन उसने सोचा—संसार एक बंधन है, एक कारागार है, यहाँ सभी सज़ा भुगत रहे हैं, उस दिन उसकी बेफ़िक्र आत्मा बंदी की तरह छटपटा उठी।

जिस ख़याल से दो हज़ार साल पहले महात्मा ईसा सलीब पर चढ़ गये थे, जिस विचार से राजकुमार सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु के राजमहल को छोड़कर रास्ते की ख़ाक छानना जीवन का लक्ष्य स्थिर किया था, ठीक उसी ख़याल से दीनानाथ ने इस शताब्दी में अपना नया प्रयोग आरम्भ किया। एक ही जगह के लिए अलग अलग रास्तों से चलना बुद्धिमानों का स्वभाव है। ईसा अपने लिये नहीं, संसार के लिये मरे थे; बुद्ध ने बोधिसत्व का दुष्कर प्रयास पीड़ित विश्व के लिये ही किया था। दीनानाथ ने भी दीन-दुखियों को मुक्त करना अपना परम कर्तव्य मान लिया।

पहलेपहल उसे दया आई एक मक्खी पर, जो गंदगी पर बैठने के लिये भिनभिना रही थी। दीनानाथ ने अपनी लंबी शिखा में तीन बार ग्रन्थि देकर सोचा—शायद यह दहाड़ मारकर रो रही है या अपने तुच्छ जीवन से बेज़ार है। ओफ़! शोक!—परोपकार तेरी शक्ति क्षीण हो गई? तू मुझे ज़रा बल नहीं दे सकता कि मैं इस दुख-ग्रस्त आत्मा को सांत्वना दे सकूँ? ऐ मायामय अन्धकार!

तू ने एक प्रकाश की किरण तक मेरे पास नहीं रहने दी ? नाश ! सर्वनाश !

दीनानाथ चौंक पड़ा। एक मकड़ी ने मक्खी को दबोच लिया। थोड़ी-सी भिनभिनाहट, थोड़ी-सी फरफराहट ! फिर सब शांत, मौन, नीरव !

अन्धकार का हृदय चीरकर प्रकाश आँखों में भर गया। अब ज़माना ही कुछ और है। बीसवीं सदी है। महीनों का रास्ता घड़ियों में तय होता है। बुद्ध को छः बरस से ज्यादा लगा था और दीनानाथ को शायद छः मिनट से भी कम। उन्हें एकांत वन में साक्षात् हुआ था, इन्हें अपने ज़नानख़ाने की ड्योढ़ी के अन्दर।

दीनानाथ ने मस्त शरीर ज़रा चुस्त करके मकड़ी को शाबाशी दी—वाह, ख़ूब !

(२)

उस दिन से क्यों, उसी क्षण से दीनानाथ मुक्ति का सीधा रास्ता पा गया। क्षण भर की साधना में उसे प्रकाश की जो ज्योति मिली, वह उसकी समझ से अपूर्व थी। वह संयमपूर्वक पीड़ित विश्व को उस ओर ठेलकर धर्म-संस्थापकों का कठिन कार्य करने लगा।

उसे प्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिभासित हो गया कि प्राणी मात्र में सुख और शान्ति की चिरंतन अनुभूति का अभाव है। सभी योनियों में, सभी वर्गों में उस अभाव की विशेष मात्रा से बेकली बढ़ रही है। कहीं भी संतुष्टि नज़र नहीं आती। कष्ट, दुश्चिंता और शोक से जीव मात्र व्याकुल हो रहे हैं।

सांसारिक संघर्ष के कारण जीवन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उससे किसी का भी निस्तार नहीं। वह क्षोभ जितना असह्य और अनिच्छित है, उतना ही वह अनिवार्य-सा हर-एक के पीछे लगा है। जो जितने वेग से भागकर उससे प्राण छुड़ाना चाहता है, वह उतनी ही तत्परता से उसके गले का हार बनकर उसके साथ लगा रहता है।

दीनानाथ को ताज्जुब तो इस बात पर होता था कि अनेक व्यर्थ के आविष्कारों में मनुष्य ने क्यों अपने जीवन का दुरुपयोग किया? जो चिंता सबसे ज़रूरी थी, वही क्यों नहीं स्वाभाविक रीति से किसी के मस्तिष्क में उदय हुई? जिन लोगों ने जीवन-मरण के रहस्य को परदे से बाहर लाने का यत्न किया, वे क्यों नहीं कृतकार्य

हुए ? इतना सीधा-सा रास्ता उन्हें क्यों नहीं सूझा ? क्या मृत्यु ही जीवन का परमार्थ नहीं है ? ओह ! उसकी गोद कैसी विश्रांतिपूर्ण है। अनंत सुख और चिरंतन शांति में, वही तो जीवन की समस्त क्लांति को विलीन कर लेती है। उसके द्वार के अंदर पैर रखते ही अभावों का अभाव हो जाता है।

उसीकी उज्ज्वल आलोक-पूर्ण मुखच्छवि को लोगों ने अंधकार की कालिमा समझने की भूल की है। मनुष्य की भ्रम-पूर्ण बुद्धि के नए-पुराने संस्करणों को देखकर कहना पड़ता है कि अगर ऐसी निरर्थक चीज़ कहीं बाजार में बिकती होती, तो कोई उसे ताँबे के सिक्कों के मोल भी नहीं ख़रीदता। लेकिन विधाता की परम कृपा का फल मानकर आज भी उसका आसन वैसा ही गौरवास्पद बना है। और अब जब कि दीनानाथ को सत्यता की तह का ठिकाना मालूम हो गया है, तो उसकी महत्ता और भी अक्षुण्ण हो गई है।

बस, मृत्यु को जीवनरूपी दिन की विश्रांति-पूर्ण रात्रि मानकर दीनानाथ मन-ही-मन अपनी सफलता का अनुभव करने लगा। लेकिन यह उसकी विशाल-हृदयता है कि

उसने ख़ुद ही उस परमतत्त्व का आस्वादन करने का लोभ नहीं किया; बल्कि निर्मुक्त नीलाकाश की तरह, समस्त संसार के लिये उसका द्वार खोल दिया। यहीं क्यों, अपने ही साधनाभिभूत हाथों से उसने इस परम पावन अनुष्ठान का आरंभ किया।

(३)

जीव-रक्षा के लिये जैन-साधुओं की सतर्कता प्रशंसनीय है। उनकी दिनचर्या का विशेष अंश अनंत असंख्य कीटाणुओं के बचाव में ही व्यय होता है। दीनानाथ की लगन उनसे भी कहीं बढ़-चढ़कर थी। उसे तो दिन-रात सोते-जागते यही चिंता रहती थी कि किस तरह सृष्टि को सांसारिक क्लेश से छुटकारा दिला दिया जाय। शायद वह एक दिन में उतने जीवों को परलोक अवश्य ही भेज देता था, जितने कई साधु मिलकर बचा न सकते होंगे।

दीनानाथ के एक मित्र के शब्दों में अगर उसकी फुर्ती का वर्णन करने लगें, तो कहेंगे कि उसने विधाता तक को हरा दिया था। बूढ़े शक्तिहीन चतुरानन बाबा जबतक एक की सृष्टि करते थे, तबतक वह चार को

समाप्त कर देता था। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पोते और सोते-जागते दीनानाथ कभी अपना काम भूलता नहीं था। जो जीव जहाँ नज़र पड़ जाता, तुरन्त उसे वह पञ्च-तत्व में मिला देता। अगर राजकीय क़ानून बाधक न होता और संसार की मूर्खता इतनी सुधर गई होती कि वह उसके कार्य को उद्धारक का काम समझती, तो अवश्य ही अब तक मानव-जाति का भी बहुत कुछ उपकार हो गया होता। लेकिन दुर्भाग्य, क्योंकि मनुष्य के बराबर कोई मूर्ख नहीं। अनंत कष्ट भोगकर भी रात-दिन नारकीय यंत्रणाओं में छटपटाना उसे पसन्द है, लेकिन जीवन से छुटकारा पाने की चिंता नहीं। मृत्यु से उसे डर लगता है, परम शान्तिदायिनी, मोक्ष की सह-चरी से भयभीत रहता है। अनेक तरह के अस्वाभाविक साधनों से वह अपने जीवनकाल को दीर्घतर करने ही में लगा रहता है। बस, एक मानव-जाति पर ही अपना प्रयोग करने में इच्छा रखते हुये भो दीनानाथ समर्थ न हो सका।

मक्खी-मच्छर, कुत्ते-बिल्ली तथा और सभी जानदारों को दीनानाथ बहुत फ़ुर्ती से परमलोक की तरफ़ भेजने

साँचे में

लगा। वह एक भी काम ऐसा नहीं करता, जिस
उसके जीवन का लक्ष्य दूर होता जाता हो स्नेह-
पैर जमाकर वह दूसरा पैर तब तक नहीं उठाता,
तक उसे दो-चार जीव दबकर मसल जाने का पूरा विश्वास
नहीं होता। इसी तरह बड़ी ख़ुशी, बड़े उत्साह और बड़ी
तत्परता से वह हिंसा-व्रत-साधन द्वारा परमार्थ का आदर्श
उपस्थित करने लगा।

(४)

कर्मों के अनुसार हीस्वभाव में कोमलता और कठो-
रता का समावेश होता है। ब्राह्मण परशुराम में क्षत्रित्व
और क्षत्रिय बुद्धदेव में ब्राह्मणत्व की विशेषता सभी
जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से
ही आरम्भ हो गया था। धीरे-धीरे दूसरों के दुखों की
अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों
से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके
छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी अंतरात्मा पर कुछ
भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक सोते हुए कुत्ते
पर करना चाहता था, उसके मित्र कालिकासहाय ने

समाप्त कर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर पोंछने लगा। मित्र की ढिठाई और नादानी पर दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, वह शायद कालिकासहाय को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकासहाय ने हँसकर कहा—क्यों, भला उसने क्या बिगाड़ा था ?

दीनानाथ ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम जो बात नहीं समझ सकते, उसके लिये फ़िज़ूल माथापच्ची करने से फ़ायदा ?

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने काम के लिये चला गया। कालिकासहाय खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोह, निर्द्वन्द्व और निस्पृह था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। जहाँ किसी तरह के सम्बन्ध की गंध आती, वहाँ से वह दूर जा खड़ा होता। उसके असहाय जीवन ने प्रेम और स्नेह के अत्याचार को कभी सहा न था। माँ-बाप थे नहीं। भाई-बहनों की भी उसे याद न

थी। उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के साँचे में ढला था।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था। स्नेह-सम्बन्ध के कट्टर शत्रु दीनानाथ से बारबार भिड़ना उसे पसन्द आता था। जब देखो तब वह उसीके पीछे पड़ा रहता था। उधर दीनानाथ उसकी रंच भी परवा न करता था। इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता लँगड़े पैरों चल रही थी। एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय संतोष कर रहा था। लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुत्ते को भगा दिया, तो दीनानाथ सह न सका। वह मन-ही-मन तलमलाकर एकांत में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया। बड़ी देर तक ध्यानावस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अज्ञानी है। उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असार्थकता समझ सके। 'मक्खी' का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया। उसे ऐसा

प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है। उसने कहा—हाँ, ज़रूर उसे अज्ञानता से मुक्त करना होगा। वह मुझसे हित मानता है। शायद उसकी अंतरात्मा इसीलिये उसे बार-बार इधर ले आती है। ख़ैर, अब उसे कष्ट नहीं करना पड़ेगा। मैं ख़ुद ही चलकर उसकी आत्मा को अमरसुख पहुँचाकर तृप्त करूँगा।

वह चटपट एक चमचमाती हुई छुरी लेकर अपने अज्ञानी मित्र की तलाश में निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर गया होगा कि कराहने की एक क्षीण आवाज़ ने उसे चौंका दिया। उसने देखा—एक कंकाल-प्राय मानवमूर्ति रास्ते में एक तरफ़ पड़ी थी। उसमें मांस और रक्त का शायद एकदम अभाव हो चुका था।

दीनानाथ का हृदय न-जाने क्यों यह दृश्य देखकर काँप गया, पर तुरंत सँभलकर खड़ा हो गया। मन को सुस्थिर करके पूछना चाहा—कहो, विश्रांति की गोद में जाना चाहते हो? इस नारकीय संसार से त्राण की कामना कर रहे हो? क्या तुम्हारे उद्देश्य में सहायता दूँ?

मृत्यु की गोद में छटपटाते हुए पुरुष ने कष्ट से व्यथित स्वर में कहा—थोड़ा पानी।

दीनानाथ के तन-बदन में आग-सी लग गई। वह बोला—अभी तक पानी पीने की इच्छा रखते हो ?

उस पुरुष ने आँखें खोल दीं। चारोंओर देखकर कहा—हा ! राजदुलारी कहाँ गई ? मेरी प्यारी बच्ची...

दीनानाथ—क्यों क्या चाहते हो ?

पुरुष—जीवन, मैं केवल जीवन चाहता हूँ। क्या तुम कोई देवता हो भैया ! हा ! मेरी प्यारी राजदुलारी !

दीनानाथ—जीवन नरक है, तुम नरक की क्यों कामना करते हो ?

पुरुष—जीवन नरक ! ओफ़ ग़ज़ब, जिसमें अनेक सुखों की उपलब्धि हुई, वह......वह......

दीनानाथ—हाँ, वही ! तुम अज्ञानता में पड़े हो। कहो तो तुम्हें अज्ञान से छुटकारा दिला दूँ ? बोलो शीघ्र, मेरा अमूल्य समय जा रहा है। उसने अपनी तेज़ छुरी हाथ में ले ली।

पुरुष की आँखें खुल गईं। उसने कहा—ओह ! तुम हत्या करोगे, हत्या ! अभी नहीं, मेरी बच्ची राजदुलारी !

दीनानाथ ने पेट के पास छुरी ले जाकर कहा—तुम मूर्ख हो। जाओ, यह सीधा रास्ता है—बस।

(५)

अपरान्ह-काल की अंतिम किरणें पड़ रही थीं। दीनानाथ ने जाकर कालिकासहाय को पुकारा। कुंडी खुली, दीनानाथ दरवाज़े को ठेलकर अंदर दाख़िल हुआ। वह आश्चर्य से अवाक् खड़ा रह गया। एक अद्‌भुत लावण्य-मयी कृशांगी सुकुमारी लड़की सामने खड़ी थी। उसके अपूर्व चेहरे पर विषाद की छाया ने आश्रम बना लिया था। दीनानाथ मुग्ध भाव से कई क्षण तक उसकी ओर टकटकी लगाए खड़ा रह गया। वह लड़की भी मूर्तिवत उसके एक तरफ़ निकल जाने की प्रतीक्षा में उसी तरह अचल बनी रही।

कालिकासहाय ने अंदर से पुकारा—क्या करने लगा है, दीनानाथ? क्या कोई शिकार हाथ लग गया है?

मोह भंग हुआ। दीनानाथ का शरीर एक दफ़ा ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। उसने जी पर शासन करके कहा—अजी किधर हो, मैं तो शिकार की ही तलाश में आया हूँ।

इधर छत पर चले आओ—कहकर कालिकासहाय उसकी प्रतीक्षा में टहलने लगा। दीनानाथ पहुँचा तो कालिकासहाय ने व्यंग्य के भाव से पूछा—आज क्या ज़रूरत पड़ गई ?

दीनानाथ ने अपनी कमर की छुरी पर हाथ फेरकर कहा—मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आती है। कई दिन से मैं यह निश्चय कर रहा हूँ कि कम-से-कम अपने एक परिचित मित्र को तो कुछ उपदेश दे सकूँ।

कालिकासहाय ने हँसकर कहा—मैं तो तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने के लायक़ नहीं हूँ। अभी मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है, अभी संसार की किसी चीज़ से मुझे विरक्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं उसका अधिकारी नहीं। हाँ, तुम्हारे उपदेश का एक श्रोता मुझे मिल गया है। वह मैं तुम्हें सिपुर्द कर सकता हूँ।

दीनानाथ उसके मुँह की ओर देखने लगा। उसने फिर कहा—कहो तैयार हो ?

इसी समय कालिकासहाय की बहन कमलावती उस लड़की को साथ लेकर छत पर आ पहुँची। कालिकासहाय ने दीनानाथ से कहा—देखो, यही वह लड़की

है। इसका पहले ही से तुम्हारे मत की तरफ़ झुकाव है। अगर तुम इसे अपने धर्म में नहीं लेते, तो कमलावती सारे पुण्य की भागी होगी। एक तो इसके शरीर में जान ही कितनी है, दूसरे कमलावती उसे ठेल-ठेलकर यमपुरी भेज देना चाहती है। बेचारी बड़ी ग़रीब असहाय और निराश्रय है। तुम चाहो तो आकर थोड़ा बहुत उपदेश रोज़ कर जा सकते हो। जब वह पूरी तरह से तुम्हारी अनुयायिनी हो जायगी, तो कोई उसे रोकनेवाला नहीं। सच पूछो तो तुम्हारे मत की सार्थकता इसी तरह के प्राणियों में सिद्ध हो सकती है।

बड़े तर्क-वितर्क के बाद कालिकासहाय ने दीनानाथ को तैयार कर लिया। उसने मनही मन ख़ुश होकर पुकारा—कमलावती, अपना उपदेश ख़त्म करके उसे इधर ले आ। उसके लिये नए मास्टर साहब रख दिए गए हैं।

कमलावती ने वहीं से पुकारकर जवाब दिया—नहीं; मास्टर की ज़रूरत नहीं है। वह मास्टर से नहीं पढ़ेगी। हम दोनों खेल रही हैं।

कालिकासहाय ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा—चल-चल, बहुत बात न बना। मालूम पड़ता है, एक

मास्टर तेरे लिये भी लाना होगा । दिन भर खेलत रहती है ।

मास्टर के नाम से सहमती हुई कमलावती अपनी सहेली का अंचल पकड़कर उसे कालिकासहाय के पास ले आई ।

दीनानाथ धर्मोपदेश की तमाम बातें भूलकर एक साधारण मास्टर की तरह उस अज्ञात अपरिचित बालिका को पढ़ाने लगा । ज़रा देर में कालिकासहाय धीरे से उठकर नीचे चला गया ।

(६)

रात को बड़े गर्व के साथ कालिकासहाय ने अपने पिता के सामने कहा—बाबूजी, मैंने ठीक कर दिया है ।

पिता ने पूछा—क्या दीनानाथ ने आना स्वीकार कर लिया है ? वह बड़ा सैलानी लड़का है, तुम ज़रा उसकी फ़िक्र रखना । वह किसी काम में जी लगा सकेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं ।

कालिकासहाय—जी नहीं, अब वह रोज़ आएगा ।

पिता—हाँ, तब तो बहुत ठीक । बेचारी ग़रीब लड़की का जीवन सुधर जायगा और दीनानाथ बंधन-ग्रस्त होने से मनमानी न कर सकेगा ।

पिता ने ही नहीं माता ने भी कालिकासहाय को उसकी सफलता पर बहुत साधुवाद दिए। तमाम घर के लोग उसकी तारीफ़ करने लगे। अकेली कमलावती को भाई की योजना बिलकुल पसंद नहीं आई। वह अपने गाल फुलाए हुए एक तरफ़ बैठी रही। लेकिन उसका किसी पर कुछ असर नहीं हुआ। कमलावती यद्यपि दिन में कई बार लड़ाई-झगड़ा करती थी, पर यह उसकी पक्की धारणा थी कि लड़-झगड़कर भी उसका अपनी सखी पर जो अधिकार है, वह किसी दूसरे का हर-दम प्यार करके भी नहीं हो सकता।

दीनानाथ दो-तीन दिन तक बड़े उत्साह से उस अनाथ बालिका को पढ़ाने जाता रहा। उसी थोड़े-से समय के प्रयास ने उसके जीवन की धारा में अपूर्व आकांक्षाओं की सृष्टि कर दी। यद्यपि प्रकाश-रूप से वह उन्हें समझ नहीं सका, पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि के लिये उनका आभास ही काफ़ी था। यही वजह थी कि अंतरोल्लास के साथ-साथ ग्लानि का एक भाव भी उसके हृदय में अपनी जड़ गहरी जमा रहा था।

एक दिन शाम को जब वह लौटकर आया, तो उसके

हृदय में बड़ी अशांति पैदा हो गई। उसे ऐसा प्रतिभास हुआ कि वह सचमुच कई दिन से अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर रहा है। यद्यपि समय के बहुत बड़े भाग में वह अपने आचार में कोई त्रुटि नहीं करता, फिर भी एक शिथिलता आ गई है। वह एकाएक नींद के झोंके से चौंक पड़ा। उसे प्रतीत हुआ जैसे कालिकासहाय ने उसे ठग लिया है। उसके लिये मोह का एक जाल बिछाकर उसने सांसारिक दृष्टि से अपने जीवन की रक्षा कर ली है; पर वास्तव में उसने अपनी आध्यात्मिक मृत्यु कर ली है।

दीनानाथ ने तुरन्त तय किया कि वह ऐसा न होने देगा। वह अपने अज्ञानी मित्र को अवश्य ही जीवन्मुक्त करेगा।

बस, दूसरे दिन से वह पूर्ववत् बड़ी तत्परता से अपने कार्य में व्यस्त होगया। मास्टर के रूप में कालिका-सहाय के मकान की तरफ़ जाना बंद कर दिया और कोई न सही, कमलावती तो उसके इस कार्य से प्रसन्न ही हुई।

(७)

कई दिन प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कालिकासहाय न आया, तो दीनानाथ से रहा न गया। वह ख़ुद ही

उसकी तलाश में निकल पड़ा। आज उसने तय कर लिया था कि कालिकासहाय को ख़बर लेनी ही होगी।

वह बड़ी तेज़ी से अपने मित्र के मकान की तरफ़ दौड़ गया।

कालिकासहाय का मकान सड़क पर था। दूर से उसका द्वार नज़र आता था। दीनानाथ ने देखा, द्वार खुला पड़ा है। उसने मन-ही मन ख़ुश होकर कहा—आज अच्छा मौक़ा है। क़ानून को एक बार छका चुका हूँ, आज उसको मसल डालूँगा। पाप के मूलोच्छेद से बढ़िया दूसरा पुण्य इस जीवन में है कहाँ? यह बेढंगा क़ानून सबसे बड़ा पाप है। इसी के नियंत्रण से आज यह संसाररूप भट्टी प्रज्वलित हो रही है और उसमें जल रही हैं असंख्य आत्माएँ।

वह बड़ी तेज़ी से, तीर की तरह, कालिकासहाय के मकान में चला गया। उसका हाथ बराबर कमर की छुरी पर था। पहले वह सीधा कालिकासहाय के कमरे की तरफ़ गया। वहाँ कोई न था। वह दूसरे कमरे में पहुँचा, वहाँ भी कोई न था। ऊपर के तमाम कमरे देख-कर नीचे उतर आया, भीतर मकान में प्रवेश किया।

अन्दर पैर रखते ही उसने देखा कि घर के सब लोग बरामदे में इकट्ठे हैं। बड़ी दौड़-धूप और परेशानी का दृश्य उपस्थित हो रहा है। वह झटपट वहाँ जा पहुँचा।

वह मृत्यु को देखकर ख़ुश होता था, लेकिन आज वह रो पड़ा। उसने सजल नेत्रों से अपने मित्र के पिता से पूछा—क्या हुआ है? कालिकासहाय कहाँ है?

वे कुछ भी जवाब न दे सके। उसी समय कालिका-सहाय डाक्टर को लेकर आया। दीनानाथ बड़ी दीनता के साथ उसकी तरफ बढ़ा; लेकिन कालिकासहाय उसकी तरफ ध्यान न दे सका। वह डाक्टर को कुर्सी देकर घुटनों के बल चारपाई की पट्टी पकड़कर ज़मीन पर बैठ गया और रोगिणी को पुकारा—राजदुलारी!

राजदुलारी बेहोशी की वजह से आँखें न खोल सकी। डाक्टर ने बड़ी देर तक नब्ज़ हाथ में लेकर देखी और कालिकासहाय को साथ लेकर वह बाहर निकल गया।

दीनानाथ पागल की तरह वहीं खड़ा रह गया। उसके कानों में बराबर राजदुलारी का नाम गूँज रहा

था। पहले भी यही नाम एक बार उसके कान में पड़ चुका है, लेकिन कहाँ? इसका उसे ध्यान न था। राज-दुलारी को पढ़ाते समय तो वह कुछ भी उससे पूछने का साहस न कर सका था। अपने मित्र से भी विशेष कोई बात पूछने को कभी उसने उत्कंठा न दिखाई थी; फिर भी वह नाम से किस तरह परिचित था?

कालिकासहाय दवाई लेकर लौट आया। दीनानाथ शोक से बेहद उत्तेजित हो रहा था। उसने कालिकासहाय को रोककर पूछा—डाक्टर ने क्या कहा?

कालिकासहाय ने सूखे मुँह से उत्तर दिया—कहा है कि ईश्वर ही भला करे। आशा तो कुछ है नहीं, एका-एक आघात लगा है। उसकी कमज़ोर देह सँभाल नहीं सकी है!—लाओ माँ! प्याली, दवाई पिला दें। आज रातभर जागना पड़ेगा। आप और पिताजी दो दिन से जाग रहे हैं। आज मैं जाग लूँगा। आप लोग जाकर पड़ रहिये, ज़रूरत होने पर बुला लूँगा।

कोई उठकर नहीं गया। कालिकासहाय ने दवाई पिलाकर फिर सबसे लेटने को कहा। बड़ी मुश्किल से सब लोग वहाँ से गए।

दीनानाथ अब तक भौचक्का-सा बैठा था। उसने एकांत पाकर उलाहने के दो-तीन शब्दों में ही हृदय की समस्त वेदना उँडेलकर पूछा—मुझे खबर ही न दी ?

कालिकासहाय ने धीरे से कहा—तुम मृत्यु को ही जीवन समझते हो, इसीलिये—यद्यपि राजदुलारी ने स्वयं बुखार की तीव्रता के समय तुम्हें कई बार याद किया था।

दीनानाथ का सारा शरीर काँपने लगा। राजदुलारी ! राजदुलारी ! उसके कानों में गूँजने लगा। उसकी आँखों के सामने उस वृद्ध पुरुष की समस्त बातें प्रत्यक्ष हो उठीं। उसे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे समस्त संसार चक्कर लगा रहा है। वह आरामकुर्सी पर बेहोश होकर गिर पड़ा।

कालिकासहाय रोगिणी की श्वास की गति पर ध्यान दे रहा था। वह दीनानाथ की हालत का अनुमान नहीं कर सका।

थोड़ी देर में दीनानाथ को होश हुआ। सिर उठाया, देखा—कड़ुए तेल के दिए की बत्ती धीमी जल रही थी। कालिकासहाय भी अपनी कुर्सी पर ऊँघ रहा था।

दीनानाथ ने मित्र का कंधा हिलाकर कहा—तुम

जाकर लेटो। मैं बैठा हूँ। दिन में सो चुका हूँ, मुझे बिलकुल नींद नहीं है।

कालिकासहाय—नहीं।

दीनानाथ—क्यों नहीं, जाओ, तुम जाकर लेट रहो।

कालिकासहाय--डाक्टर की ताकीद है। आज की रात्रि अंतिम है। मैं आज उठकर न जाऊँगा।

दीनानाथ सुन न सका, उसकी आँखों में आँसू की बूँदें झलमलाने लगीं। कालिकासहाय ने कहा—यह क्या, तुम......तुम......इस तरह...?

हाँ, भाई—कहकर दीनानाथ चुप हो गया। आगे उससे बोला न गया। कालिकासहाय उसके मनोभाव को देखकर वहाँ से उठ गया।

दीनानाथ रोगिणी के श्वास पर एकटक ध्यान लगाए बैठा रहा। ज़रा भी स्पंदन होने से वह सजग हो जाता था। उसके टूटे हुए हृदय में एक ही अभिलाष थी। वह भी पूरी न हो सकी। राजदुलारी ने आँखें न खोलीं—न खोलीं। रात्रि के अवसान के साथ उसके जीवन का भी अवसान हो गया।

उसके मृत शरीर में भी जीवन का स्पंदन खोजता

हुआ दीनानाथ विकल भाव से चारपाई पर बैठा रहा। जिसका तमाम समय बराबर मृत्यु में ही सुख का अस्तित्व निर्णय करने में व्यस्त था, वह आज जोवन की एक-एक श्वास के लिये तरस गया।

निर्मम में ममता का स्रोत फूट पड़ा। हत्यारे में करुणा की रागिनी बज उठी। असाधारण निश्चय की दृढ़ दीवार एक ही आघात में छिन्न-भिन्न हो गई। हाय रे! परिवर्तन! दीनानाथ चुपचाप भावों की उन्मत्त लहर में राजदुलारी को मृत्यु को अपनी हत्याओं की सूची से अलग रखना चाहता है, पर न जाने कौन आकर उसका नाम फिर जोड़ देता है। अदृश्य के उस हाथ को रोकने की क्षमता कहाँ? वह बेहद उद्विग्न और उत्तेजित होकर इधर-उधर देखना चाहता है, पर कुछ दिखाई नहीं पड़ता—कुछ समझ में नहीं आता। संसार के पथ-प्रदर्शक को आज अपने पथ-प्रदर्शन के लिये किसी की बड़ी आवश्यकता है।

———

व्यवधान

(१)

हिमालय की तलहटी में, सुविस्तृत कान्तार के अञ्चल से हटकर, स्वच्छ-सलिला सरिता की कमर में लटका हुआ एक बड़ा-सा समतल भूखण्ड पड़ा था। उसमें नीबू-नारंगी की किस्म के बहुत से जंगली झाड़ थे। बीच-बीच में तरह-तरह के पहाड़ी वृक्ष विशेषरूप से लगाये गये थे; उनके पनपने के लिए पर्याप्त साधन भी जुटाये गये थे। उस भूभाग का तीन-चौथाई हिस्सा हरित-श्यामल शस्य से ढका हुआ था।

शीतल वायु के झोंकों से एक साथ असंख्य पत्तियों के हिल उठने से एक विचित्र प्रकार का आनन्द-संगीत हृदय में भर जाता था। उसके बीचोंबीच एक उद्धत ढंग से बनाया हुआ मकान था। ठीक बौद्ध-स्तूप की तरह, पर बेढंगा—अकुशल हाथों की कारीगरी का सजीव नमूना। ऐसा जान पड़ता था मानों बनदेवी की अलौकिक रूप-राशि की अकस्मात् एक झलक पाकर आदिपुरुष सब कुछ भूलकर उसके पीछे सघन कान्तार की ओर दौड़ गये हों और उनका भूधराकार मातंग चुपचाप खड़ा रह गया हो।

उस स्तूपाकार एकान्त भवन में उन्नत मस्तक, उभरे वक्षस्थल और उठती हुई उमंगोंवाले, राम-लक्ष्मण की तरह, दो युवक रहते थे। एक का नाम मदन और दूसरे का किशोर था। दोनों कृषक थे। पृथ्वी को जोतकर बोना, धान्य को इकट्ठा करना और फल-फूलों को भरकर राजधानी में भेज देना—बस, यही उनके काम थे। वे दोनों एक ही बचपन की उन्मादक सुरभि थे। साथ-साथ रहे थे। साथ-साथ खेले-खाये थे। साथ ही साथ अवस्था की परिणति के क्षण देखे थे। उनके दो शरीरों में विधाता

ने एक ही प्राण की प्रतिष्ठा की थी। एक का दर्द दूसरे की आह थी। एक का पसीना दूसरे का रक्तस्राव था।

पेड़ों में बहारें आतीं और चली जातीं। फूलों में यौवन निखरता और बिखर जाता, पर उन दोनों के हृदय प्रेम की डोर से कसकर बँधे थे। मलयपवन के उत्तराभिमुख झोंकों को वे साथ ही साथ आलिंगन करते थे। हँसती हुई कलियों को कभी अकेले में देखकर ख़ुश होने का लोभ किसी के मन में स्थान न पाता।

वे दिन उनकी विजय के दिन थे। पराजय का नाम उनके जिन्दादिल कानों से अपरिचित था।

(२)

अनायास ही दूसरी कुटी का जन्म हुआ। उसमें रहने के लिए आकाश से एक चन्द्रमा उतरकर आया। बन-श्री शोभामय हो गई, पक्षियों के गान में माधुरी भर गई, फूलों से हँसी झरने लगी, और लहरों में जीवन प्रकंपित होने लगा।

उस कुटी के झरोखे सभी पगडंडियों पर झाँकते थे। किधर से भी निकलो वातायन की आँखें खुली हुई मिलती थीं। कुटी की स्वामिनी अपने झरोखे में बैठकर किसी की

प्रतीक्षा करती थी। कभी द्वार पर रसाल की डाल का आश्रय लेकर पीठ पर छितरे हुए बालों को सुखाती और कभी मेंहदी रचाये हाथों से भौंरों को उड़ाती हुई कलियाँ चुना करती। उसकी हँसी में फूल झरते थे। उसकी चञ्चल चितवन में अमृत बरसता था।

किशोर और मदन हँसते हुए घर से निकले थे; लेकिन वह हँसी कहीं मार्ग में ही रह गई। खेत निराते समय, पौदे सींचते समय वे दोनों एक ही विषय को सोच रहे थे; पर कोई कुछ न कहता था।

वह कौन है? उसने किसकी ओर देखा था? देखा दोनों ही को होगा पर शायद मेरी ओर विशेष रूप से। उसकी दृष्टि में मीठी हँसी भी थी। उस हँसी में कोई संकेत भी था। और वह तो बिलकुल स्पष्ट ही था—यही सोच-सोचकर उन दोनों के हृदयों में भेद-भाव का जन्म हुआ। अभिन्नता में अन्तर पड़ चला।

(३)

उस दिन से मदन और किशोर को किसी ने साथ आते-जाते न देखा। घर से निकलते तो दोनों के दो जुदा रास्ते होते। एक पूरब चलता तो दूसरे का पश्चिम जाना

आवश्यक होता। एक इस कोने पर काम करता तो दूसरा खेत के उस कोने पर। घर आते तो आगे-पीछे। एक का बिस्तर एक ओर लगता तो दूसरे का दूसरी ओर। खाने-पीने में भी कोई किसी की प्रतीक्षा न करता। बातों में उदासीनता थी, व्यवहार में एक तरह का विचित्र अलगाव। दोनों-दोनों की आँख से बचकर उस लावण्यमयी सुन्दरी की कुटी की ओर जाना चाहते; तो चुपचाप खिसक जाते। एक दूसरे को कानो-कान खबर न होने देने के लिए भरसक सतर्क रहता। डर था, कहीं पहले ही दूसरा जाकर अपना असर न डाल दे।

दोनों छिप-छिपकर पहुँचने लगे। परिचय हुआ और निर्जनता की सुविधा पाकर वल्लरी की तरह बढ़ गया। आलाप होने लगा, फिर भेंटे चढ़ाई जाने लगीं। अपना-अपना पुजापा लेकर दोनों ही भक्त एक दूसरे से बचकर जाने लगे। एक पश्चिम-द्वार से जाता तो दूसरा पूर्व-द्वार से। एक संध्या की लाली के साथ पहुँचता तो दूसरा सूर्योदय की किरणों के साथ जाकर अपना अर्घ्य समर्पित कर आता। जो फूल किसी समय देवार्चना के उपकरण थे वे आजकल न जाने किस तरह जाकर उस रमणी

का शृङ्गार करते। पुष्प-गंधविहीन धूलि-धूसरित देव-प्रतिमा की ओर किसी का ध्यान न जाता। सजीव-साकार सौंदर्य-प्रतिमा के सामने प्रस्तर-मूर्ति की कौन परवाह करता ?

घर में, घर से बाहर जो कुछ दर्शनीय और बहुमूल्य मिलता, वह देवोजी के चरणों में अर्पित हो जाता। रमणी के सामने दोनों ही अपने को तमाम सम्पत्ति का स्वामी बताते। कोई भूलकर भी अपने साथी का नाम ज़बान पर न लाता।

कोमलाङ्गी युवती इन दोनों बलशाली युवकों के विचित्र आचरण पर हँसती नहीं तरस खाती थी। मनुष्य अपने उद्दण्ड बल-पराक्रम का चाहे जितना गर्व करे, पैरों की धमक से पृथ्वी को कँपाने की शक्ति भले हो रखता हो, पर सुन्दरी तरुणी युवती के लिए वह सदा दया का पात्र है। उसके कोमल बाहु-पाश के सामने उसकी तलवार कुंठित हो जाती है। उसकी मीठी-मन्द मुसकान का लोहा बड़े से बड़ा योद्धा मानता है। इसीलिए वह युवती भी इस मदोन्मत्त जुगुल-जोड़ी पर असीम कृपा रखती थी। वे उसकी दया के ही पात्र थे!

(४)

मदन और किशोर जब इस तरह प्रेम के चक्कर में पड़ चुके थे। जब दोनों नित्य उस युवती के सामने अपनी नई-नई लालसाएँ ले जाकर अर्पित कर देते थे, जब पारस्परिक सौहार्द्र का बन्धन ख़ूब ही शिथिल हो गया था; उस समय उनकी पराजय अधर में झोंके खा रही थी। प्रणय-प्रतिदान का जितना ही अश्वासन उन्हें मिलता था, मनुष्यता का महत्-तत्व उतना ही उसके पास से खिसकता जाता था।

उसके जीवन की सादगी नष्ट हो चुकी थी। विलास ने आत्मा के पवित्र भाव को दूषित कर दिया था। लापर-वाही ने घर की जगमगाती लक्ष्मी का द्वार बन्द कर दिया था। खेतों में शस्य-श्री की हरीतिमा नहीं लहराती थी। सरिता के रुके हुए जल में फूटपड़नेवाले कमलों की शोभा से प्रान्तर-प्रदेश शून्य हो गया था। कुसुम-समूह का मकरन्द पतझड़ की हवा ने वसन्त के प्रभात में ही सुखा डाला था, पर उधर देखता ही कौन? किसे यह सब ताकते रहने का अवकाश रह गया था?

निसर्ग की रमणीयता, वसुन्धरा की कान्ति और कान्तार का लावण्य अपना अपना स्थान छोड़कर जैसे उस सुन्दरी-सलोनी युवती के नयन-विलास में ही जा बसे थे। उसी की चितवन में अपने चिरवाञ्छित, चिराराधित रूपसौष्ठव को समाया हुआ देखकर वे युवक युगल भी जैसे प्रतिपल उसकी ओर खिंचे जारहे थे। अवसर पाते ही उनमें से प्रत्येक उसकी अनुपम छविमयी रूपमाधुरी को आंखों के रास्ते पी जाना चाहता था। उसकी साधना-संचित अभिनव पुण्य-प्रतिमा को अपने हृदय-मन्दिर के निभृत अन्तराल में छिपा रखना चाहता था।

(५)

युवती का नाम मालती था, पर क्या कुसुमिता मालतीलता उसे पाती थी? मदन और किशोर के मूक प्रेम-निवेदन को भाषा पढ़ने में मालती को प्रयास नहीं पड़ा था!

एक दिन उसने किशोर से एकान्त पाकर कहा—आपको यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मैं अब सामाजिक बंधन में बँधजाना चाहती हूँ। नगर से बाहर समाज से दूर रहकर भी मुझे उसके नियन्त्रण की आवश्यकता प्रतीत

होती है। आशा है, आप मुझे सहायता देंगे। मैं देखती हूँ इसके बिना हम लोगों का स्नेह चिरस्थायी नहीं हो सकता। वैसे जिसके स्वार्थ की सीमा जहाँ पर अन्त होगी वहीं उसके सौहार्द्र का भी लोप हो जायगा। किशोर का हृदय खुशी से नाच उठा। इन्हीं बातों को सुनने के लिए वह अधीर हो रहा था। मालती ने फिर कहा—उसके लिये इसी पूर्णिमा का दिन निश्चित है।

फिर क्या था—किशोर सहस्रमुख होकर उस नवीन योजना का हृदय से स्वागत करने लगा। उसके प्रेम मे आज विशेष मृदुता थी।

मालती ने उस दिन मीठी-मीठी मृदुल हँसी हँसकर और कुछ-कुछ लजाकर उसे बिदा किया और चलते चलते अनुरोध कर दिया—शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध अब विवाह से पहिले भेंट न हो सकेगी।

मदन के साथ भी यही व्यवहार हुआ। उस दिन दोनों ही खुशी से फूल रहे थे और छिपे-छिपे जासूसी कर रहे थे कि कहीं दूसरे पर रहस्य न प्रगट हो जावे। हर्ष से नींद न थी। खुशी से भूख-प्यास हरण होगई थी। बस, उसी मंगलमहोत्सव की उत्सुक प्रतीक्षा थी।

दोनों ने ब्याह के लिये बड़ी तैयारियाँ कीं—अलग-अलग गुपचुप भी बिल्कुल एक दूसरे से पृथक् ।

(६)

मालती का आश्रम फूलों से सजा था । नवीन लताओं ने बढ़कर उसके द्वार पर बन्दनवारें बाँधी थीं । वातायनों के द्वार पर झूलती हुई शाखाओं पर बैठकर कोकिल मंगल गान गा रही थी ।

मालती ने भी अपने शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाया था । केसर के रंग में रँगी हुई साड़ी उसकी देह-लता में मिली जा रही थी ।

दासी ने द्वार खोलकर बड़ी शिष्टता से मदन को भीतर बुला लिया । उसकी लाई हुई अमूल्य भेंट लेकर नीची निगाह से मुस्कराते हुए एक ओर रख दी ।

मदन ने अपना स्थान लिया ही था कि किशोर ने प्रवेश किया । उसकी भी अनुपम प्रणय-स्मृति को दासी उसी तरह लेकर रख लिया । किशोर भी वहीं मण्डप के नीचे बैठ गया ।

आज ही प्रथम बार वे दोनों मालती के यहाँ साथ-साथ पधारे थे । दोनों का ठाठ निराला था । दोनों राजकुमारों

की तरह सजकर आये थे, और इस प्रकार बैठे थे जैसे एक दूसरे को जानता ही न हो। दोनों मन ही मन कुढ़ रहे थे।

इसी समय दोनों की आँखों में अविश्वास और आश्चर्य की सृष्टि करते हुए मालती ने प्रवेश किया। आज लज्जा और सङ्कोच से उसकी शोभा अपार हो रही थी। वह एक अनिन्द्य सुन्दर युवक के हाथ का आश्रय लिए हुए थी। मण्डप में प्रवेश करते ही उसने किंकर्तव्य विमूढ़ इन दोनों युवकों को अनेकानेक धन्यवाद देते हुए कहना आरम्भ किया—आप लोगों को कितना कष्ट हुआ है, मैं जानती हूँ। आप ही की असीम कृपा से आज सुअवसर प्राप्त हुआ है जब कि मेरे आराध्यदेव यहाँ उपस्थित हुए हैं। जिनके लिये मैंने जीवन की अमूल्य घड़ियों में, एकान्त निर्जन में कठोर तपस्या की थी, आज वे आप लोगों के सामने हैं। आप लोग ही हमारे माता-पिता-भाइ बन्धु हैं। आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने स्वामी की चरणसेवा उपयुक्त हो सकूँ।—पर वे दोनों अवाक् एक दूसरे को ताक रहे थे। उनकी मुख-श्री मलिन और विवर्ण हो गई थी। कोई उत्तर मुँह से न निकलता था।

वहाँ से लौट आने पर एक बार फिर मदन और किशोर एक हो गये। वे अभी तक हिमालय की सघन सुन्दर उपत्यका में विचरण करते हैं। मालती वहाँ से चली गई है, पर उसकी याद कभी कभी उन दोनों के मन को ग्लानि से भर देती है। वे अपने उस पागलपन पर हँसते भी हैं और शर्माते भी।

———

निष्फल-स्वप्न

(क)
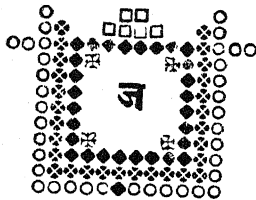
जहाज़ के कप्तान हडसन ने अपने एक मल्लाह के कन्धे में उँगली गड़ाकर कहा—लानतोने ! वह क्षितिज पर बादल उठ रहे हैं ? क्या तुम उनके विषय में कुछ कह सकते हो ?

लानतोने ने गर्दन फिराकर जवाब दिया मैं सिर्फ़ इतनाही कह सकता हूँ कि वे इतनी तेज़ी से बढ़रहे हैं, जिसका उन्हें कभी अधिकार नहीं ।

हडसन ने ज़रासा हँस दिया फिर कहा—उनके अधिकार का विचार करना हमारे वश के बाहर की बात है।

लानतोने ने उसी तरह लापरवाही से सिर हिलाकर कहा—बेशक !

कप्तान अपने कर्मचारियों को हुक्म देने वाला था कि हवा का एक ज़ोरदार झोंका आया, और जहाज़ तीन फलाँग की दूरी पर जा पहुँचा। हडसन ने धैर्य को नहीं जाने दिया। उसके लिये यह साधारण बात थी। उसने चिल्ला कर कहा—तूफ़ान है।

दूसरे ही क्षण एक-दो-तीन झोकों ने जहाज़ को बुरी-तरह झकझोर डाला। ज़रा पहले जो समुद्र शान्त और सौम्य था, उसने ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया, जिसकी उपमा देकर समझाना असंभव है। पर्वताकार भीषण लहरों पर वह हज़ारों मन का जहाज़ सूखी पत्ती की तरह काँपने लगा। ऐसा घोर विकट शब्द होने लगा कि कानों के परदे फटे जाते थे। मालूम पड़ता था कि जैसे सारा ब्रह्माण्ड उलट-पुलट कर प्रलय की तैयारी में लगा है। बागी की तरह मतवाली अनन्त जलराशि में वे तरंग-

मालाएँ सजीव पर्वत-श्रेणियों की तरह डेक के ऊपर से निकल जाती थीं।

दिशाओं का ज्ञान नहीं रह गया था। एकाएक अश्रुत-पूर्व वज्रनाद से उस भयङ्कर तूफ़ान का भी हृदय हिल गया। जहाज़ एक नंगी कठोर चट्टान से टकरा गया। दूसरे क्षण उन्मत्त लहरों और उद्दण्ड वायु के झोंकों से सशंक और अर्धमृत लोगों के शरीर समुद्र में बिखर गये। जहाज़ के टूटे हुए मस्तूल बेकार हो गये। सारे कल-पुर्जे लहरों में इधर-उधर बहने लगे। देखते-देखते जहाज़ का नामो-निशान मिट गया। केवल बिराटकाय तरंग-सम्राट अपनी दुर्जय शक्ति का अपूर्व प्रदर्शन करते हुए लहरों का हाहाकार मचाए रहे। मनुष्य की क्षुद्र-हीन प्रेरणा स्वप्न के साम्राज्य की तरह विलोयमान होगई।

(ख)

नीरव अन्धकार को बेधकर शुभ्र, सौम्य, शान्त और उज्ज्वल प्रभात धीरे-धीरे पूर्व आकाश से उदय हुआ। कहाँ था वह भीषण तूफ़ान, और किधर था वह महाप्रलय? चाँदी-सोने के सितारों से उज्ज्वल सैकत-कूल कलकी रात्रि से कितना भिन्न था, लेकिन अदृश्य-अचिन्त्य शक्ति के

पास वही कितना समीप था ? सामने क्षितिज तक फैली हुई अपरिमित नील जल-राशि कितनी शान्त और अचंचल थी ? उसे देखकर कौन कह सकता था कि यही सौम्य सागर संक्षुब्ध होनेपर कैसा उन्मत्त हो जाता है ? जब लानतोने ने सिर उठाकर सूर्य की अरुण-किरण की ओर देखा, तो ये सारी बातें उसके मन में एक साथ आ-कर प्रविष्ट हो गईं। उसने अपने शिथिल शरीर को बालू के उसी बिछौने पर अलस भाव से डाल दिया। आँखें बन्द करलीं; और कल रात्रि की घटना का अपनी समस्त शक्ति से स्मरण करने लगा। लेकिन वह कैसे किनारे आ लगा, जहाज़ क्या डूब गया और सब लोगों की क्या दशा हुई ? इसका कोई आभास उसे न मिल सका।

लानतोने ने आँखे खोलकर एक बार अपने चारों ओर देखा। सामने वही महदोधि वृहदाकार नीलवर्ण मेघ की तरह चुपचाप सो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कल की उद्दण्ड चेष्टा के पश्चात् उसे पूर्णविराम की आवश्यकता हुई है, या मन ही मन ग्लानि के भाव से भरकर मुँह ऊँचा नहीं कर रहा है। लानतोने उठकर बैठ गया, पीछे निर्जन बालुकामय प्रदेश था। उसके

स्वभाव में सदा से जो लापरवाही और मस्ती थी, वह इस समय न जाने क्यों दूर हो गई थी, और उसका फीका मुखमण्डल चिन्ता के गंभीर मेघों से आच्छन्न हो गया था। वह उठकर खड़ा हो गया और चारों ओर व्याकुल दृष्टि दौड़ाने लगा।

समुद्र के महाभयंकर तूफ़ान से, या कहिये मृत्यु के मुँह से, निकल आने की उसे .खुशो होनी चाहिये थी। जिस दैवो शक्ति ने उसे सुरक्षित उपकूल पर लेजाकर सुला दिया था, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के बदले वह मन ही मन खिन्न हो गया। इसका यह कारण नहीं कि वह कृतघ्न था बल्कि एक बार मौत की पूरी यन्त्रणा सह लेने के बाद दुबारा फिर उसी से मोर्चा लेने के आसार दिखाई दे रहे थे। इस समय वह दो समुद्रों के बीच में खड़ा था, एक बालू का समुद्र था और एक वह जिससे निकलकर उसने प्राण बचाये थे। दोनों निर्जन थे। कहीं कोई नज़र न आता था।

लानतोने जवान आदमी था। जवानी की उमंग शरीर में भरी थी। रग-रग में उत्सुकता का .खून लहरा रहा था। वह अंगड़ाई लेकर कगार के ऊपर एक-एक पैर

रखता हुआ चढ़गया। चारों ओर उस विराट्-विस्तीर्ण, निर्वाक निस्पन्द, जनहीन जल-थल-प्रदेश की ओर देखा, कहीं कोई जहाज़ आता जाता दिखाई न देता था। एक दीर्घ निश्वास लेकर वह उतर ही रहा था कि एकाएक उसकी दृष्टि पास ही पड़ी हुई किसी श्वेतवस्तु पर पड़ी। उसने समझा, समुद्र का फेन एक स्थान पर आलगा है, वही सूर्य की किरणों में झिलमिला रहा है, तथापि बग़ैर देखे उससे रहा भी न गया। वह फुर्ती से उसके अनुसन्धान के लिये चल पड़ा।

(ग)

उसका अनुमान एकदम ग़लत न था, श्वेत फ़ेन से लिपटा हुआ एक अस्तव्यस्त शरीर समुद्र की लहरों में पड़कर वहाँ आगया था। उस जनशून्य स्थान में एक जीवित या मृत कैसे भी साथी की प्रत्यक्ष उपस्थिति से लानतोने का हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से ओतप्रोत हो गया। उसने अपने थके और शिथिल शरीर की परवाह न करके उस शरीर से फ़ेन को दूर किया। उसकी नाक के पास हाथ रखकर देखा, दिल की परीक्षा की, पर उसकी समझ में कुछ भी न आया। फिर भी वह

बराबर यत्न करता रहा । उसने उसे उल्टा लिटा दिया । आध घण्टे बाद एक हल्का स्पन्दन प्रतीत हुआ । लानतोने को जैसे एक भारी साम्राज्य मिल गया । उसने उसकी शुश्रूषा में अपनी सारी अक्ल खर्च कर डालने में कोर-कसर न की । दूसरे दिन प्रातःकाल जब वह उठकर बैठ गया, तो लानतोने का हृदय खुशी से नाच उठा । उसने बार-बार लानतोने की कृपा के लिये धन्यवाद का बोझ उस पर लादा तो वह सचमुच ही अपने आपको बड़ा कर्मकुशल समझने लगा ।

लानतोने के नवीन साथी का नाम ज़िमेरिन था । वह बड़ा ही हँसमुख और विनोदप्रिय था । बात-बात में उसे हँसी का मसाला सहज ही मिल जाता था । जिस गुण के लिये चार्लीचैपलिन कई सहस्र रुपये प्रतिसप्ताह पैदा करता है, वह ज़िमेरिन में उससे किसी क़दर कम न था । उसके साथ उस विजन देश में भी लानतोने के दिन मज़े से कटने लगे । ज़िमेरिन के उस अलौकिक गुण का वहाँ बस इतना ही मूल्य था ।

वे दोनों पहाड़ियों पर घूमते थे । कन्दराओं में विचरते थे । समुद्र के किनारे बैठकर मछली पकड़ते और

जहाज़ों की प्रतीक्षा किया करते थे। उसे छोटे से टापू का संसार एक तरह से निराला ही था। अजीब-अजीब जानवर थे। विचित्र तरह के फलफूल थे। किनारों पर समुद्री पक्षी अपने ताक़तवर डैनों को फड़फड़ाया करते थे। कई महीने बीत गये पर कोई जहाज़ उधर आता नज़र न पड़ा।

एक दिन एकाएक ज़िमेरिन पूँछ बैठा—यह कौन सा सन् है?

"अठारह सौ पच्चीस।"

"महीना?"

लानतोने थोड़ी देर सोचकर बोला—नहीं, अठारह सौ पच्चीस कल ख़त्म हो गया।

"तो अठारह सौ छब्बीस की पहली जनवरी है?"

"हाँ।"

ज़िमेरिन धीरे से एक ठण्ढो साँस लेकर चुप हो गया। थोड़ी देर बाद लानतोने ने कहा—यहीं रहो, मौज करो। जब ईश्वर चाहेगा, तो आपही कोई ख़ुदा का बन्दा आकर हमको ले जायगा।

ज़िमेरिन ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप खिसककर कुछ सोचने लगा।

लानतोने के बार-बार पूँछने पर ज़िमेरिन ने कहा—बस, अब मुझे कहीं जाना आना नहीं है। जिस दिन तुम ने मुझे जीवनदान दिया था, उस दिन सचमुच ही मेरा मन आशा से पूर्ण हो गया था। समझा था, जीवन की सब से बड़ी अभिलाषा पूर्ण होगी। उसी के लिये ईश्वर ने तुम्हें भेज दिया है; नहीं तो अठारह महीने का डूबा हुआ भी कभी कोई जीवित हुआ है। यदि तुम्हारी दिवस-गणना में कोई फ़र्क़ नहीं है, तो आने वाली संध्या मेरे भाग्य का निपटारा कर जायगी। कल का प्रभात मेरे लिये शून्य और निरुद्देश्य होगा। ओह, अच्छा होता, यदि मैंने भागने का प्रयत्न न किया होता। पर अब क्या हो सकता है लानतोने ?

इसी समय लानतोने एकाएक उछल पड़ा, और जोर से झंडी हिलाकर चिल्लाया। क़रीब दो मील की दूरी से जहाज़ जा रहा था। अनुकूल बहने-वाली हवा ने सौभाग्य से उसका संकेत उस तक पहुँचा दिया। एक क्षण में जहाज़ ने अपना रुख़ बदल दिया। अब मारे

ख़ुशी के लानतोने पागल हुआ जा रहा था; पर ज़िमेरिन उसी तरह उदासभाव से उसकी ओर देख रहा था। आख़िर उसने कहा—लानतोने ! यदि कभी तुम मार्सिलोज़ पहुँच जाओ, तो पहाड़ी के उस पार माझियों की बस्ती में ज़रूर जाना। वहीं शहतूत के बगीचे के पास, अंगूर की बेलि से ढका हुआ, एक मकान मिलेगा। वह मेरी प्रेयसी का मकान है। अगर वह उसमें न मिले—और नहीं मिलेगी, क्योंकि आज शाम के बाद वह सदा से मेरी होकर भी मेरी न रहेगी—तो लोगों से दरियाफ़्त कर ज़रा उसके पास तक चले जाना। आज मेरे प्रतिस्पर्द्धी जोसेफ़ के साथ उसके जीवन का सम्बन्ध-सूत्र ग्रथित कर दिया जायगा। कृपाकर मिसेस जोसेफ़ के पास मेरी इस ख़बर को पहुँचाना न भूलना कि ज़िमेरिन वहाँ से जाकर फ़ौज में भर्ती हो गया था। धीरे-धीरे सिपाही के पद से बढ़कर वह सेना का कप्तान हो गया था। उसने अनेक युद्ध विजय किये थे। जितने भाग्य और वैभव की शर्तें उसके पिता ने लगाई थीं, उससे सहस्र गुना वे उसके पैरों पर लोटते थे। वह चाहता, तो बीच में ही लौटकर वे सारी शर्तें पूरी कर डालता; पर

महत्वाकांक्षा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। दुर्भाग्य उसे एक युद्ध में ले गया। पराजय हाथ रही। वह बन्दी हो गया। अनन्त दिशाओं तक व्याप्त महासागर शून्य-निर्जन टापू में, एक बड़े भयंकर क़िले में, वह बन्द कर दिया गया। सारे संसार की ओर से वह भुला दिया गया था, पर किसी की याद में उसका अस्थिपञ्जरमय शरीर सदा ही व्याकुल रहता था। वह एक निश्चित तिथि-गणना में हर समय अपनी जाग्रत् इन्द्रियों को व्यस्त रखता था। एक दिन वह पहरेदारों आदि की ज़रा भी परवा न करके, मृत्यु को तुच्छ समझकर, समुद्र में कूद पड़ा। मृत्यु का डर अब उसे नहीं था; डर था समय के निकल जाने का। पर हाय! वह कहाँ हुआ! अन्त में उस अप्रिय अवांछित की ही उपलब्धि हुई।

जहाज़ से छूटी हुई डोंगी अब किनारे आ गई थी। लानतोने ने ज़िमेरिन से चढ़ने को कहा, पर वह तैयार न हुआ। बोला—जाओ मित्र, तुम जाओ। मेरे लिये अब संसार में कुछ नहीं है। सारे प्रकाश, समस्त सार्थकता का अस्तित्व एक दम लोप हो गया है। जब भाग्य ही ने मुझे

अकेला कर दिया है, तो संसार में स्त्री-सङ्गियों की चेष्टा करना निष्फल और व्यर्थ होगा।

लानतोने को जबरदस्ती नाव पर चढ़ाकर वह निर्विकार-भाव से आकर मछली पकड़ने लगा। धीरे-धीरे असमतल किनारे ने उसे ओट में कर दिया। लानतोने एक गहरी साँस लेकर, हर्ष और विषाद के भार से परेशान होकर माँझी से पूछ बैठा—यह कौन सा द्वीप है?

अभी इसका नामकरण नहीं हुआ—कहकर माँझी जल्दी-जल्दी डाँड़ खेने लगा।

(घ)

जो बात स्वयं जिमेरिन ने नहीं सोची थी, लानतोने किस तरह उसका अनुमान करता। इसीलिये तीन बार पास से गुजर जाने पर भी उसने मार्सिलोज़ में जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। सोचा था, जब कभी उस शहर में जाना होगा, तब देख लूँगा। यह दुखद-संवाद जल्दी न भी पहुँचाया जाय, तो भी कोई हर्ज नहीं; और यही कौन कह सकता है कि वहाँ उसको सुनने के लिए कोई बैठा ही होगा? बरसों के पुराने और शिथिल प्रेम

को कोई युवती अपने हृदय में पाल-पोस रही होगी, इस पर लानतोने को क़तई विश्वास न था।

इसीलिये ठीक पाँच बरस बाद उस शहर में जाने पर वह जहाज़ से उतरकर एलिजा का पता लगाने चला।

बड़ी मुश्किल से एक बूढ़ी औरत ने बतलाया—ठीक है, उस तरफ़ पन्द्रह-सोलह बरस पहले एक घर था। वहाँ एलिजा रहती थी। पर अब शायद कई साल से वहाँ नहीं है। आप उस बाग़ की ओर चले जाइये, वहीं दरियाफ्त कीजिये; शायद कुछ पता चले। यह तो बहुत दिनों की बात है।

लानतोने उधर गया। वहाँ न तो एलिजा का मकान था, न अंगूर की बेलि। केवल भस्मावशेष देखकर इतना ही अनुमान हो सकता था कि यहाँ कभी मनुष्य रहते थे। बहुत देर तक लानतोने वहीं एक प्राचीन वृक्ष की छाया में बैठा हुआ एलिजा की कल्पना करता रहा। फिर इधर-उधर तलाश करने से मालूम हुआ कि वह किनारे से दूर किसी नगर में रहती है। साथ ही यह भी मालूम हुआ कि पिता की मृत्यु के बाद उसने जोसेफ़ को कोरा उत्तर दे दिया था कि पिता की प्रतिज्ञा पालन के लिये

वह तैयार नहीं है। वह उनकी चीज़ थी; उन्हीं के साथ चली गई; और वह बराबर ज़िमेरिन की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। अभी सिर्फ़ तीन बरस पहले वह निराश और हताश होकर यहाँ से चली गई है। उसने आजन्म कुमारी रहने का कठिन व्रत ठाना है। वह एक छोटे-से गाँव में रहती है। अभी तक कभी-कभी आशा से विह्वल होकर वह जहाज़ों से उतरनेवाले लोगों को देखने आती है। लानतोने को ऐसा मालूम पड़ा, जैसे एक बार फिर से तूफ़ान उसको चारों ओर से घेर रहा है। ओफ़! यदि वह सीधा उसी समय मार्सिलीज़ चला आता! यदि एलिज़ा अपने प्रियतम की खबर पाकर उससे मिलने के लिये न भी दौड़ सकती, तो भी उसके मलिन हृदय के अन्दर आशा का एक तार झन-झन बज उठता, और यह खबर सुनाकर ज़िमेरिन को वापस लाया जाना दुष्कर न था।

(ङ)

अपने लापरवाह स्वभाव पर तमाम दोष मढ़कर वह एलिज़ा की तलाश में स्थल-मार्ग से चल पड़ा। जिस समय वह तीसरे दिन उस जनहीन पथरीले मार्ग से चलकर

उसके द्वार तक पहुँचा, तो भूख प्यास के कारण वह गिरकर कुछ देर के लिये बेहोश हो गया।

आँख खुली, तो देखा, एलिजा उसके सिर पर जल के छींटे दे रही है। लानतोने ने बिना परिचय के ही उसे पहिचान लिया था, उसने इस तरह सम्बोधन करके कहा, जैसे चिरन्तन काल से वह उसे पहचानती हो। उसने कहा—एलिजा! ज़िमेरिन अभी तक जीता है। वह समय के अन्दर नहीं आ सका, इसलिये उसने अपना संदेशा कहने को मुझे भेजा है। उसे क्या पता कि तुमने जोसेफ़ से व्याह नहीं किया है। ओफ़! नहीं तो वह ज़रूर ही आता। यही सब सोचकर उसने संसार त्याग दिया है।

इस तरह उसने इस मलिन वेष-धारिणी मुरझाई हुई लता की तरह वयस्का एलिजा से सारी कथा कह सुनाई। एलिजा की आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे। वह देर से ख़बर लाने के कारण लानतोने से किसी तरह नाराज़ न हुई, बल्कि अपने ही मस्तक को पीट डाला।

जो ग़लती लनतोने ने स्वयं की थी, उसके उत्तर-दायित्व ने तथा उन प्रणयि-युगल के मार्मिक और करुण विरह ने उसे मजबूर किया, और वह अपने चाचा की

बड़ी नाव में एलिजा को लेकर एक बार फिर तरंग-सम्राट् के वक्षःस्थल को चीरता हुआ उस अनाम निर्जन द्वीप की ओर चल दिया।

अस्तंगत सूर्य की आरक्त किरणों के साथ वह बोट भी नील-जल-प्रक्षालित ऊँचे किनारे से जा लगा। लान-तोने झटपट ऊपर चढ़ गया, रस्सी डालकर उसने एलिजा को भी ऊपर खींच लिया। देखा—थोड़ी दूर पर जहाँ वह छः साल पहले नाव पर चढ़ा था, जहाँ वह ज़िमेरिन को मछली पकड़ते छोड़ गया था, वहीं ठीक उसी स्थान पर समुद्र की ओर ताकता हुआ वह अब भी बैठा है। वह झटपट एलिजा को लेकर उधर दौड़ा। सोचा था, चुपचाप जाकर उसे सामने करके वह मित्र को चकित कर देगा; पर वहाँ पहुँचते-पहुँचते वे दोनों ख़ुद ही चकित और मूर्तिवत् खड़े रह गये। आह! ज़िमेरिन का निष्प्राण शरीर दल-दल में धँसा हुआ खड़ा था।

एलिजा और लानतोने दोनों की आँखों से आँसू ढुलक रहे थे। वह सन्ध्या के अन्धकार में उसी तरह खड़ी-खड़ी सोचती रही कि उसका जीवन भी कैसा निष्फलस्वप्न था।

———

मुद्रक—रा० न० त्रिपाठी, हिन्दी-मन्दिर प्रेस, इलाहाबाद।